मैंने स्मृति के दीप जलाए

श्रीरामनाथ सुमन

मैंने स्मृति के दीप जलाये

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मैंने स्मृति के दीप जलाये

श्रीरामनाथ 'सुमन'

मूल्य : सोलह रुपये (16.00)

प्रथम संस्करण 1976 ; © श्री रामनाथ 'सुमन'

MAINE SMRITI KE DEEP JALAYE (Life-sketches)
by Shriramnath 'Suman'

अनुक्रम

पुरुषोत्तमदास टण्डन

जीवन

पुरुषोत्तमदास जी टण्डन[1] आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय जीवन के एक दीपस्तंभ थे। उनका लगभग अस्सी वर्ष का लम्बा जीवन एक ऐसी निष्ठा का प्रतीक है, जो बहुत कम दिखाई पड़ती है। विद्यार्थी, वकील, प्रबन्धक, जनसेवक, राष्ट्रनायक, विधान सभा के अध्यक्ष, हिन्दी के आजन्म व्रती, विचारक अनेक रूपों में बिखरा उनका जीवन उनकी दृढ़ सिद्धान्तप्रियता से ओतप्रोत है। यद्यपि उनकी प्रसिद्धि देशनेता के रूप में अधिक है, और इस ग्रन्थ को मुख्यतः साहित्यकारों तक सीमित रखा गया है किन्तु टण्डन जी के विषय में अपवाद करने का कारण है। पहली बात तो यह कि यद्यपि वह सेवा के विविध क्षेत्रों में क्रियाशील रहे और साहित्य-रचना का अवसर उन्हें नहीं मिला परन्तु हृदय से वह राजनीति की अपेक्षा साहित्य के अधिक निकट थे। उन्होंने सुहृद संघ, मुजफ्फरपुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर १७ फरवरी १९५१ को स्वयं ही कहा था :

"लोग कहते हैं कि मैं साहित्य और राजनीति से समन्वित दोहरा व्यक्तित्व रखता हूं। परन्तु सच्ची बात यह है कि मैं पहले साहित्य में आया और प्रेम से आया। हिन्दी साहित्य के प्रति मेरे उसी प्रेम ने उसके हितों की रक्षा और उसके विकास-पथ को स्पष्ट करने के लिए मुझे राजनीति में सम्मिलित होने को बाध्य किया।"

हिन्दी साहित्य के अभ्युदय के लिए ही उन्होंने हिन्दी के प्रसार और उसको राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकार किये जाने के लिए अथक परिश्रम किया। उनका खयाल था कि भाषा के प्रसार से साहित्य स्वयं उन्नत एवं पुष्ट होगा।

एक लेखक के रूप में भी वह सर्वथा नगण्य नहीं हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' (प्रथम भाग) की जो भूमिका उन्होंने लिखी, उससे उनके हिन्दी, विशेषतः संत-साहित्य के गंभीर ज्ञान का पता लगता है। पं० बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' तथा बाद में 'अभ्युदय' में लिखे हुए उनके लेखों पर उनकी सुरुचिपूर्ण, मुहावरेदार शैली एवं अध्ययन की छाप है।

•

उनका जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया, मंगलवार, संवत् १९३९ अर्थात् १ अगस्त १८८२ ई० को प्रयाग में श्री शालग्राम टण्डन के पुत्र रूप में हुआ था। बचपन में

1. जन्म : १ अगस्त, १८८२ ई०; मृत्यु : १ जुलाई १९६२ ई०

बड़े दुलार के साथ इनका लालन-पालन हुआ। बचपन में चौधरी महादेवप्रसाद के घर के सामने एक मौलवी साहब की पाठशाला में इनका विद्यारंभ हुआ। कालान्तर में सी० ए० वी० स्कूल, गवर्नमेण्ट स्कूल, कायस्थ पाठशाला तथा म्योर कालेज में इनकी उच्च शिक्षा हुई। १८९७ ई० में इण्ट्रेंस, १८९९ ई० में इण्टर, १९०४ ई० में बी० ए०, १९०७ ई० में एम० ए० (इतिहास) की परीक्षा पास की। वकालत पहले ही पास कर ली थी। पहले ज़िला अदालत में और बाद को हाईकोर्ट में प्रेक्टिस की। हाईकोर्ट में वह सर तेजबहादुर सप्रू के जूनियर थे। इस पेशे में भी उन्हें अच्छी सफलता मिली। परन्तु उनकी मुख्य विशेषता शुरू से ही उनकी चारित्रिक सिद्धान्तवादिता रही है। वकालत करते समय भी कभी कोई झूठा मुकदमा उन्होंने नहीं लिया।

शुरू से ही इनपर मालवीय जी महाराज तथा हिन्दी के पुराने उद्‌भट लेखक बालकृष्ण भट्ट का बड़ा प्रभाव था। मालवीय जी के ही अनुरोध से इन्होंने पंजाब की नाभा रियासत के विधि मंत्री और बाद में वैदेशिक मंत्री का पद संभाला था। बाद में वहां से इस्तीफा देकर इलाहाबाद लौट आये और फिर वकालत करने लगे।

१९१० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के समय से ही यह उससे सम्बद्ध हो गये थे और धीरे-धीरे उसके विविध कार्यों तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में इतने तल्लीन हो गये कि वह साहित्य सम्मेलन के प्रतीक बन गये और उनके बिना सम्मेलन की कल्पना करना भी असंभव हो गया। उनके जीवन के अन्तिम दिनों से अब तक, उनके पथ-दर्शन से वंचित होकर सम्मेलन निष्प्राण हो गया है।

जब से गांधी जी ने राष्ट्रीय सेवा में हिन्दी को प्रमुख स्थान दिया, तब से टण्डन जी, हिंदी के लिए ही, भारतीय राजनीति में अधिकाधिक उलझते गये। उन्होंने किसान आन्दोलन तथा कांग्रेस के विविध विधायक कार्यों का नेतृत्व किया और अपने चरित्र की निर्मलता, सेवा की लगन, त्याग तथा कर्तृत्व से देश के चोटी के नेताओं में गिने जाने लगे। समय पर वह प्रान्तीय कांग्रेस तथा भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी हुए परन्तु किसी भी पद के लिए उन्होंने कभी अपने सिद्धान्तों का त्याग नहीं किया, यहां तक कि विधान सभा की अध्यक्षता के समय भी कांग्रेस नहीं छोड़ी।

कांग्रेस द्वारा प्रवर्तित आन्दोलनों के सिलसिले में वह ७ बार जेल गये। राजनीतिक कार्यों के साथ वह सम्मेलन तथा हिन्दी का कार्य भी बराबर करते-देखते रहे। वह साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के अध्यक्ष भी हुए।

१९२४ के बाद इनकी आर्थिक अवस्था तेज़ी से गिरने लगी। परिवार बड़े कष्ट में आ पड़ा। तब स्व० लाला लाजपतराय के आग्रह से इन्होंने पंजाब नेशनल बैंक के प्रधान कार्यालय में व्यवस्थापक का पद ग्रहण किया। इस सिलसिले में मई १९२५ से अगस्त १९२९ तक वह लाहौर रहे और उनकी देखरेख में बैंक की

काफी प्रगति हुई।

साइमन कमीशन के बहिष्कार की जो आंधी समस्त देश में चली, उसमें लाला लाजपतराय पुलिस की लाठियों से इस बुरी तरह आहत हुए कि कुछ दिनों बाद उनका देहान्त हो गया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति का दान देकर राष्ट्र की सेवा में जीवन अर्पण करने वाले व्यक्तियों के योग-क्षेम के लिए 'लोक-सेवक मण्डल' नाम की एक संस्था स्थापित की थी। लाला जी स्वयं उसके अध्यक्ष थे। उनके देहावसान के बाद टण्डन जी उसके अध्यक्ष हुए और अन्त तक रहे।

उत्तर जीवन में उन्हें कई महत्त्वपूर्ण पद देने का प्रस्ताव किया गया, किन्तु सोच-विचार कर उन्होंने कोई पद ग्रहण न करने का निश्चय किया। वस्तुतः वह पूर्ण भारतीयता के समर्थक थे और जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण जवाहर लाल जी से भिन्न था।

देश के नैतिक पतन से वह बड़े दुखी थे। उन्होंने हिन्दी के प्रश्न पर सबसे लोहा लिया, परन्तु भारतीय शासन के नेताओं में अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत का जो मोह था, वह दिनों-दिन घनीभूत होता गया है।

घोर परिश्रम, मानसिक अवसाद, देश की गिरती हुई राजनीति तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की गुटबन्दी और उसे दूर करने में अपनी निरन्तर असफलता की खीझ के कारण १९६२ ई० में वह बुरी तरह बीमार हुए। दिन-दिन दुर्बल तथा अशक्त होते गये। और १ जुलाई १९६२ ई० को अगणित श्रद्धालुओं को रोता-बिलखता छोड़कर देहमुक्त हो गये।

समूचे व्यक्तित्व का एक अध्ययन

आकृति-चित्र

अर्द्ध-खल्वाट मस्तक के ऊपर बिखरी अस्त-व्यस्त केशराशि, दृढ़ता-बोधक ठुड्डी, रह-रहकर अन्दर की ज्योति से जल-जल उठनेवाली आंखें, बीच-बीच में हिलते-कांपते कन्धे, युगों की साधनाओं और वर्जनाओं से किञ्चित् झुके, परन्तु उस झुकने में भी एक शान और तेजस्विता—इस रूप में लगभग पचपन साल पहले उनको देखा था। शायद इलाहाबाद ज़िला राजनीतिक सम्मेलन के समय। उसमें लाला लाजपतराय, मोतीलाल जी, शौकत अली इत्यादि कितने ही नेता सम्मिलित हुए थे।

फिर ५-६ वर्ष बाद देखा, मुज़फ्फरपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में—सम्मेलन, जो पुरातन और नूतन की एक विभाजक रेखा के रूप में सामने आया—उपदेश, गतानुगति और फब्तियों के ऊपर कर्मठता का किरण-जाल लिए हुए। टण्डन जी में देखा एक व्यक्तित्व, जिसमें दृढ़ता थी पर लचक नहीं; जिसमें तप था, पर वह जो विरोधी के प्रति उदार नहीं होता, जिसमें लगन थी परन्तु

अपनी ही धुन और लीक पर चलने वाली; जिसमें सदाचरण की प्रेरणाएं थीं परन्तु दार्शनिक दृष्टि से दीप्त नहीं, वरन् पौराणिक और कर्मकाण्डीन; उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के विचित्र सम्मिश्रण से : बाहर के दीप्त वैराग्य और शरीरगत निषेधों के अन्तराल में घुट-घुटकर रह जानेवाली और इसीलिए कभी-कभी रूपान्तरित प्रतिक्रियाओं में प्रकट होनेवाली मनोभूमिकाएं। कुछ अजब खिल्त-मिल्त टाइप के महापुरुष थे टण्डन जी।

•

मन से मालवीय जी महाराज के शिष्य, बल्कि उससे भी ज़्यादा प्रयाग के गौरव स्व० बालकृष्ण भट्ट के शिष्य, परन्तु परिस्थिति-विवश गांधी जी के आन्दोलनों के प्रमुख कार्यकर्ता, टण्डन जी में जीवन के अनुरूप ही क्रिकेट, कानून और संशयवाद तीनों की मिश्र प्रवृत्तियां व्यक्त हुई थीं। क्रिकेट ने उन्हें आक्रामक वृत्ति (सेंस आफ अटैक) प्रदान की; कानून ने उन्हें तार्किक बनाया और संशयवाद ने उन्हें 'किन्तु-परन्तु, अगर-मगर' से संयुक्त कर दिया। दीर्घकालिक आत्मनियन्त्रण के कारण वह गृहस्थ से दिन-दिन तपस्वी, बल्कि कुछ अंशों में वैरागी भी, होते गये परन्तु यह तप कर्मकाण्डों में अधिक व्यक्त हुआ। इसीलिए गांधी जी-प्रवर्तित आन्दोलनों में प्रमुख स्थान पाकर भी वह कभी गांधीवादी नहीं हुए। वह मन से 'मारो और मरो' या 'मारकर मरो' वाले दल में थे। शान्त, निश्चल मरने वालों के दल को वह तिरस्कार से देखते एवं इसे पौरुषहीनता समझते थे।

'वन ट्रैक माइण्ड'

'बाबू जी'—इसी स्निग्ध सम्बोधन से हम उन्हें पुकारते थे—के निजी औदार्य एवं आतिथ्य की बात अफवाह की भांति प्रसिद्ध है। जब वह लाहौर में पंजाब नेशनल बैंक के प्रधान व्यवस्थापक थे और मेरे मित्र, उर्दू के प्रसिद्ध शाइर डा० मोहनसिंह दीवाना, के मकान के ठीक सामने निस्बत रोड पर रहते थे, मैं स्वयं उनके रसार्द्र आतिथ्य का खूब स्वाद ले चुका हूं। एक-एक बात, एक-एक आवश्यकता का ध्यान उन्हें रहता था, परन्तु विश्लेषण करके देखने पर ज्ञात होगा कि यह उदारता सार्वभौम या सार्वजनीन न थी, शरणागत एवं वश्य के प्रति उदारता थी। किसी विरोधी के प्रति वह कभी उदार नहीं हुए। उनमें ब्राह्मण की तितिक्षा और मृदु उदारता नहीं, क्षत्रिय का ही ओज और क्षत्रिय की ही दण्डवृत्ति थी। व्यक्तिगत रूप से उनमें भारतीय महापुरुष के आदर्श गुण थे किन्तु जीवन तथा विचारों की कट्टरता के कारण बहुत करके वह 'वन ट्रैक माइण्ड' के व्यक्ति थे। यही उनकी शक्ति और दुर्बलता एक साथ थी। इसीलिए किसी विरोधी को मन से उन्होंने कभी क्षमा नहीं किया। यदि कर्तव्यवश या ईमानदारी से वैसा विश्वास रखने के कारण किसी ने कभी उनका विरोध किया, तो भले वह आदमी हृदय से उनका सम्मान करनेवाला हो, उसका विश्वास वह कभी न करते थे। वह सोलह आना समर्पण चाहते थे; विभाजित निष्ठाओं का उनके लिए कोई

महत्त्व न था। इसीलिए वह ऊपर से शान्त, परन्तु अन्दर खीझ से भरे हुए थे। इसी ग्रहणशीलता की, भिन्न विचार वालों के साथ अपना चूल न बैठा सकने की वृत्ति की कमी के कारण वह कांग्रेस नेतृत्व-मण्डल में चोटी पर पहुंचकर भी अधिक दिनों तक वहां स्थिर नहीं रह सके। दूसरों से स्वयं तो वह अपने प्रति पूर्ण निष्ठा चाहते थे, किन्तु कांग्रेस हाई कमान में होकर भी कांग्रेस के प्रति, उसकी विचार-धारा के प्रति उनकी निष्ठा निष्क्रिय, सुप्त, अपूर्ण एवं यतिभंगों से भरी हुई थी।

अहम् और आघातों की शृंखला

मैं कह चुका हूं कि उनमें क्षत्रियत्व का ओज था। इसी कारण उनमें एक चट्टानी 'अहम्' भी था। कांग्रेस की गतिविधि एवं राजनीति ने उनके इस 'अहम्' में सदैव असन्तोष की मात्रा बढ़ाने का काम किया, जबकि उचित तो यह था कि वह उस पर पालिश का, लोच का काम करती। उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) की राजनीति के क्षेत्र में मोतीलाल जी एवं मालवीय जी महाराज के बाद, आयु की दृष्टि से वह सबसे 'सीनियर' थे (बल्कि सेवा की दृष्टि से उन्हें मोतीलाल जी का भी सीनियर कहा जा सकता है।), योग्यता, त्याग, तप, सेवा सब दृष्टियों से। और स्वभावत: उसका नेतृत्व इन दोनों के बाद, उनके हाथ में आना चाहिए था, किन्तु घटनाएं कुछ इस क्रम से घटित हुईं कि अपेक्षाकृत नवागत होकर भी पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, अपनी वाक्पटुता, अपने शील और लोच भरे व्यक्तित्व के कारण तेज़ी से उठते गये और जब प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की स्थापना संयुक्त-प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में हुई तो मुख्यमन्त्रित्व के लिए टण्डन जी को आमंत्रित करने की जगह पन्त जी को आमन्त्रित किया गया। उनके 'अहम्' पर यह प्रथम गहरा आघात था।

जवाहरलाल उनसे छोटे थे—काफी छोटे। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के प्रति बेखबर; रईसी संस्कृति की गोद में पले। 'बाबू जी' के लिए वह छोटे भाई-से थे—ऐसा भाई जो देशभक्त होते हुए भी राष्ट्रीय संस्कृति की तात्विक गहराइयों को समझने में असमर्थ हो। १९२० ई० में किसी की कल्पना में भी यह बात न आ सकती थी कि वह नन्हा छोटा भाई बड़े भाई को अपदस्थ करके न केवल अपने प्रान्त के, बल्कि समस्त भारत के हृदय पर शासन करने लगेगा और युगों के लिए राष्ट्र का भाग्य-विधाता बन बैठेगा। १९२८-३० तक भी, जब मैंने जवाहरलाल का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि 'वह भारत के भावी नेता हैं, तो बड़े-बड़े लोग, जिन्होंने बाद में उनका यशोगान गाकर ऊंचे-ऊंचे पद प्राप्त कर लिए, मेरी ओर व्यंगभरी आंखों से देखते थे। परन्तु राजनीति में क्या, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निर्मम, रहस्यमयी और सामान्य मानव की समझ में न आने-वाली घटनाएं होती ही रहती हैं। और वही हुआ। 'बाबू जी' राष्ट्रनेताओं की पंक्ति में पीछे पड़ गये, और यह उनके 'अहम्' पर दूसरी प्रबल चोट थी।

इन घटनाओं ने उन्हें अन्तर से कांग्रेस हाई कमान के प्रति विरक्त कर दिया। एक खीझ और उदासीनता उनमें भरती गई। योग्यता, सेवा, वरिष्टता को लेकर देखें तो अवश्य ही उनके प्रति अन्याय-सा प्रतीत होगा। और अन्याय तो यह था ही, किन्तु राजनीति और जन-समूहों के नेतृत्व, विशेषत: दलगत नेतृत्व के लिए आवश्यक गुणों की दृष्टि से देखें तो उनमें कई बातों का नितान्त अभाव था। दलनेता में सौष्ठव, मार्दव, उदारता न भी हो तो लचीलापन और अपने सहकारियों या अनुगतों की भी सुनने-समझने, उन्हें भी महत्त्व देने और आगे बढ़ाने का गुण होना चाहिए। ये गुण उनमें नहीं थे। वह हठी थे। जिस बात को पकड़ लेते थे, उसमें दूसरे का भी कोई न्याय्य दृष्टिविन्दु हो सकता है, इसे मानना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। इसीलिए उनका एक भी अनुयायी सार्वजनिक जीवन में बहुत आगे नहीं बढ़ सका—या वह तभी बढ़ सका, जब उसने उनको लांघकर दूसरों का पथ-दर्शन या सहयोग-सहाय्य ग्रहण किया। इसीलिए जवाहरलालजी आगे निकल गये; पन्त जी आगे बढ़ गये; यहां तक कि एक ज़माने में उनके शिष्य लालबहादुर शास्त्री भी उनको लांघकर आगे निकल गए। जब तक वह 'बाबू जी' के साथ थे, उनके अनुगत थे, दबे रहे। जवाहरलाल के साथ इतना आगे गये। 'बाबू जी' में जवाहरलाल की सार्वभौम दृष्टि और 'एबण्डन' न था; उनमें पन्त जी का मधुसिक्त जिह्वा का मार्दव और विवादनैपुण्य न था; उनमें लालबहादुर जी की स्वयं झुककर, समर्पण करके विजय कर लेने की तत्वत: गांधीवृत्ति न थी। उनमें मोतीलाल जी की अपने विरोधी को जड़मूल से उखाड़ फेंकने और अपने क्षेत्र में सर्वप्रधान बने रहनेवाली निष्ठुर मल्लकला न थी। उनमें लाला जी की वाग्मिता या कलमशूरता (अच्छे अर्थों में) न थी। उनमें अपने गुरु मालवीय जी महाराज वाली ब्राह्मण की वह सहज करुणा और दयार्द्रता भी न थी, जो उनकी समस्त पौराणिकता, व्यासोपदेशकता तथा गतानुगति को धवल-उज्ज्वल तथा संस्कृत कर देती थी। त्याग, तप, दृढ़ता उनमें अवश्य थी, पर्याप्त मात्रा में थी परन्तु गांधी जी की भांति वह उनका विनयोग कभी न कर पाए; —गांधी जी, जो अपने सिद्वान्तों एवं आस्थाओं पर अटल रहते हुए भी अपने से मतभेद रखनेवालों के लिए कमल-कोमल थे और जिनमें विविध वृत्तियां रखनेवाले विविध जनों के लिए एक सनातन चुम्बकत्व था। इसी अभाव के कारण, अखिल भारतीय राज-नीति या समाज-जीवन के मञ्च पर वह पूर्ण सफल नहीं हुए। शायद इसी अपने आप तक अपने को सीमित रखने के कारण उनमें आदमियों को पहचानने की शक्ति क्षीण हो गई थी। साफ कहनेवाले, कहीं विरोध करने वाले, पर अन्तर से उनका सम्मान करनेवाले, अच्छे कार्यकर्ता उनके निकट एक बार आकर भी उनसे दूर होते गए और मृदुवचन तथा चाटुकारिता की बातें कहकर उनका प्रिय बन जाना अपेक्षाकृत सरल होता गया।

दीर्घसूत्रता

सामाजिक कर्मण्यता की दृष्टि से उनमें एक और भी दोष था; वह बड़े दीर्घ-सूत्री थे। तुरन्त निर्णय कर लेना या उसे कार्यान्वित करना उनकी प्रकृति में ही न था। विचारों के कामा, फुलस्टाप ने उन्हें इस कदर बांध लिया था कि एक तार का अन्तिम ड्राफ्ट भी उनके लिए घण्टों का काम था—यहां तक कि बहुधा रास्ते से भी वह उसे ले जानेवाले को बुला-बुलाकर फिर से सुनते और शब्द बदलते थे। पुराने ज़माने के भाष्यकार की भांति या विधिवेत्ता की भांति वह एक-एक शब्द पर रुकते थे। उनकी प्रज्ञा उनके सामने अंगुलि-निर्देश किये पूछती रहती थी—'क्या यह ठीक है; कुछ दूसरा तो इसकी जगह न होगा ?' स्पष्ट ही शासकीय क्षमता की अपेक्षा न्यायवादिता उनमें अधिक थी। व्यक्तिगत रूप से यह मानव का एक गुण है परन्तु समाजकर्मी या बहुतों को लेकर कोई काम करने वाले के लिए यह एक बाधक दोष है।

जीवन का बैलेंसशीट

वशिष्ट नहीं, विश्वामित्र—इतना कह-सुन लेने के बाद जब हम उन पर और उनके जीवन पर विचार करते हैं तो लगता है कि वह अन्दर-बाहर से क्षात्रवृत्ति से पूर्ण थे। उनका अहम् राजसिक था। इसीलिए उनमें सात्विक सहज क्षमा न थी; जहां क्षमा थी भी वहां क्षत्रियोचित, वश्य एवं शरणागत के प्रति क्षमा थी; विरोधी के प्रति नहीं। उनमें वशिष्ट का शील नहीं था; विश्वामित्र का ओज था। वह अवज्ञा को कभी भूल नहीं पाते थे।

सादगी की मूर्ति—दूसरी बात यह कि दीर्घकालीन अभ्यास ने अपने शरीर एवं वेश-भूषा के प्रति उन्हें उदासीन बना दिया था। वह सादगी की मूर्ति बन गए थे और अपने प्रति व्यय की सीमा को उन्होंने निम्नतम बिन्दु तक घटा दिया था। शायद डा० प्रफुल्लचन्द्र राय और गांधी जी के बाद भारत के विख्यात जन-नायकों में वह सबसे सीधे-सादे थे। इस युग में जब संसार में चतुर्दिक बाह्य अलंकरण और सजावट की वृत्ति अधिकाधिक प्रसार पाती जा रही है और एक बना-चुना, जो वह नहीं है वही दिखाने में लगा हुआ है, तब यह उनके पक्ष में एक बड़ी उप-लब्धि थी। उनकी सादगी देखकर भारतीय जीवन-विधि के अनुसरणकर्ताओं को आश्चर्य-मिश्रित आनन्द होता था। खान-पान में अपने लिए वह अत्यन्त निग्रही थे, यद्यपि दूसरों के प्रति, इस विषय में, उदार थे।

दैहिक तपस्वी—तीसरी बात यह थी कि दैहिक तप का स्थान उनके जीवन में बड़ा गहरा था। उनकी सादगी भी इस तप की एक कला थी। यह ठीक है कि यह तप हृदय-मूल से उभरा, स्वतः उच्छ्वसित, स्वभाव-सहज तप नहीं था बल्कि दीर्घकालीन अभ्यास और दृढ़तापूर्ण आत्म-नियन्त्रण का परिणाम था, फिर भी इसने उन्हें सामान्य से अलग कोटि का बना दिया था। जहां तक रहन-सहन, खान

पान का सम्बन्ध था, वह अपने प्रति बड़े कठोर थे; बने-ठने लोगों के प्रति उनकी आंखों में आश्चर्यमय कौतूहल होता था—मानो आंखें कह रही हों—'क्या ये भी आदमी हैं ? क्या इसी मूल्य को लेकर मानव खड़ा होगा ?'

अपने प्रति इस कठोरता ने उन्हें दूसरों के मूल्यों के प्रति भी कठोर बना दिया था। वह एक कठोर मित्र, कठोर पिता और कठोर पति थे। उनके लड़कों ने जो भी उन्नति की या अपने लिए सांसारिक सुविधाएं जुटाईं, वह सब उनके बावजूद है। उनमें इतनी वर्जनाएं थीं कि कुटुम्ब कुटुम्ब न रहकर आश्रम बन गया था। अन्तिम जीवन में इस कठोरता की गहरी प्रतिक्रिया उनमें हुई और युगों का दलित ममत्त्व तपस्वी के हृदय-कारा की ज़ंजीरों और रुद्ध कपाट को तोड़कर निकल आया। जो उन्होंने कभी नहीं किया था, वह किया, मानो जीवन के सारे अभावों को पूर्ण करने के लिए उनका पितृत्त्व मचल उठा हो।

•

हिन्दी भाषा के प्रसार एवं उसे राष्ट्रीय रूप देने में उनकी देन सबसे उल्लेखनीय है। वह हिन्दीमय हो गए थे और चाहे कोई कितना ही बड़ा हो, इस विषय में वह किसी से समझौता करने को तैयार न थे। एक बार तो उन्होंने मुझसे यहां तक कहा था कि ज़रूरत पड़ने पर हिन्दी के प्रश्न पर हमें चुनाव लड़ना होगा। उन्होंने अपनी सतत जागरूकता से हिन्दी साहित्य सम्मेलन को एक ऐसा राष्ट्रीय मंच बना दिया था जो हिन्दी के प्रश्न पर सरकार से टक्कर ले सकता था किन्तु प्रतिक्रिया-वश वही संस्था उन्होंने, अन्तिम दिनों में उस सरकार के तथा सरकार के उन लोगों के हाथ सौंप दी जिन्हें हिन्दी से कोई विशेष लेना-देना न था, जो अंग्रेज़ी की परम्पराओं में पले थे और जिनके लिए अंग्रेज़ी रहे तो और हिन्दी रहे तो, दोनों बराबर था तथा दोनों स्थितियों में उनके हाथ लड्डू थे। आज हिन्दी का एक भी राष्ट्रीय मंच नहीं रह गया है—हम बातें चाहे जो करें, जितनी करें। दुर्बलता के क्षणों का वह निश्चय आज अभिशाप बन गया है – इसे आज वे भी अनुभव करते हैं जो पहले अन्यथा समझते थे। लोग भूल गए कि भाषा और साहित्य का निर्माण सरकारें नहीं किया करतीं, जनसमूह एवं साहित्यकार करते हैं।

जो हो, अपने दीर्घकालिक त्याग, कष्ट-सहन, सादगी, भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था और तदनुकूल विचार-परम्परा के कारण टण्डन जी एक अलग कोटि के जन-नेता थे; वह, जिन्होंने सुविधाओं के लिए अपने सिद्धान्तों को कभी नहीं छोड़ा; जिन्होंने तुच्छ लोभ से अपनी जीवन-विधि का कभी त्याग नहीं किया और जो अपने जीवन के अधिकांश भाग में, तूफानों में चट्टान की भांति अचल रहे। त्रुटियों के साथ भी उनका चरित्र गहरी निष्ठा एवं त्याग की ऐसी पावन-भूमि है जहां से अगली पीढ़ियां शक्ति एवं स्फूर्ति तथा आदर्शों के प्रति अडिग रहने की शिक्षा प्राप्त करती रहेंगी।

वृन्दावनलाल वर्मा

मझोला कद, गठी हुई सन्तुलित देहयष्टि, चौड़ा माथा, चश्मे के पीछे से दूर तक देखती और देखी हुई चीज़ों के अन्दर तक पैठकर कुछ खोजती-ढूंढ़ती आंखें, कभी गंभीर, कभी व्यंग-चटुल और अट्टहास के स्वर से गूंज उठने वाले, इतिहासज्ञ और औपन्यासिक, वकील और पहलवान, खोजी और कथक्कड़ वृन्दावनलाल जी[1] को युगों-पूर्व देखा था; देखने के भी पहले पढ़ा था और पढ़ने के भी पहले सुना था। झांसी के ही एक पुराने लेखक मित्र थे : सुधीन्द्र वर्मा, जो लखनऊ से भी जुड़े थे। एक से एक मनोरंजक बातें सुनाया करते थे। वृन्दावन जी हिन्दी के गौरव-प्रहेलिका थे। प्रज्ञा और देह, दिमाग और दिल, इतिहास और रोमांस का ऐसा अद्‌भुत समन्वय, जो एक प्रकाश के भभूके के समान हमारे बीच आया, अप्रत्याशित रूप से हमारी पकड़ से दूर चला गया है। उनकी मैत्री तो क्या कहूं पर स्नेह उनका मुझे मिला था, जो उनके अनेकानेक पत्रों के माध्यम से हमारी मनोभूमि पर सावन की सघन नीरदमालिका की भांति बरसता रहा है—बराबर बरसता रहा है, जिससे हमारी दुःख की रजनी कटती रही है और सुख के दिन प्रलम्बित होते रहे हैं। वह मैथिलीशरण, प्रसाद, प्रेमचन्द की भांति हमारे साहित्य में गौरव की एक परम्परा का निर्माण कर गये हैं। हिन्दी के वाल्टर स्काट, बल्कि कई अंशों में उससे ज़्यादा अच्छे और मर्मी।

युग पर युग बीतते गए हैं। सुदूर अतीत, १९२८, में मैंने उनका 'गढ़कुण्डार' पढ़ा था। यह उपन्यास क्या है, एक जीवित इतिहास है, जो गढ़ के कंगूरों में बसे किसी प्रेत की भांति डोलता है, बोलता है और अट्टहास करता है। इस उपन्यास की रचना की भी एक रोचक कहानी है। १९-४-१९२७ की सनसनाती रात। घना जंगल। जंगल में एक खोह या गड्ढा। उसमें अपनी बन्दूक साधे, शिकार की ताक में बैठे, वर्मा जी। सांभर या सुअर की टोह में एकाग्र। काफी देर हो गयी है। सहसा नज़र चतुर्दिक के क्षितिज की ओर उठती है और अन्धकार में कुण्डार के किले की बुर्जियां झलक पड़ती हैं। अब बैठे तो हैं खोह में हाथ में बन्दूक लिए, शिकार की ओर आंख गड़ाए किन्तु कानों में धुन आ रही है मौर्यकाल के विस्मृत इतिहास के स्वरों की। हज़ारों वर्ष मन के पट पर आते हैं और जाते हैं, जाते हैं

१. जन्म : ९ जनवरी १८८९ ई० (पौष शुक्ला अष्टमी संवत् १९४५), मृत्यु : २३ फरवरी १९६९ ई० (सुबह ७ बजकर ५ मिनट पर)

और आते हैं—यहां तक कि शिकार की बात विस्मृत है। किसी तरह गांव के डेरे पर लौटते हैं और बस, फिर कलम है और कागज़ है—फुलस्केप पर फुलस्केप लिखते जा रहे हैं, जैसे गढ़ की प्रेतात्मा उन पर सवार हो गयी हो। जब १७ जून को उपन्यास पूरा हो गया, तब भूत उतरा और उन्हें कुछ राहत मिली।

•

जब भी वह लिखते थे, इसी तरह लिखते थे। अपने समसामयिक दूसरे लेखक चतुरसेन शास्त्री की भांति। एक भूत उन पर सवार हो जाता था। सब कुछ विस्मृत है; वह बस लिखे जा रहे हैं और लिखे जा रहे हैं। आविष्ट की भांति वह लिखते थे। और तभी तो हम देखते हैं कि अपनी डंड-बैठक, कुश्ती, शिकार तथा अपने सामन्ती और अफवाह की तरह प्रसिद्ध खान-पान के साथ भी वह एक से एक बढ़कर गौरव-ग्रन्थ हिन्दी को दे गए हैं।

हिन्दी का साहित्यकार वह जो देखने में कुछ अजीब लगे। बाल बढ़ाए हुए, दुबला-पतला, मजनू, कुछ-कुछ 'ऐबसेण्टमाइण्डेड,' टेढ़ी-मेढ़ी, पहेलियों की भाषा बोलने वाला होता है वह—शरीर के प्रति मोहाविष्ट परन्तु उसकी चेतावनियों से बेख़बर। थोड़े ही रहे होंगे, जो शरीर से पुष्ट रहे हों। मैं समझता हूं प्रसाद, निराला जैसे कसरती और अपनी देहयष्टि पर मुग्ध दो-चार ही होंगे। वर्मा जी कुछ इसी प्रकार के थे। बचपन से ही उनको कसरत का शौक था। फिर लालाभाई होकर ऐसा शौक कम ही लोग पाल सकते हैं। पिता को भी इनका यह रंग ढंग-प्रिय न था परन्तु वह थे कि बुन्देलों की अकड़ और मस्ती से भरे, व्यायाम की हर कला पर निछावर। मरियल लोगों से उनकी पटती न थी। ललितपुर में जब पढ़ते थे तब यह हाल था कि कड़ाके की सर्दी पड़ रही है; लोग पुलओवर तथा ओवरकोट में भी कांप रहे हैं और वृन्दावनलाल जी हैं कि बिना कुछ पहने, बिना कपड़ों के घूम रहे हैं। किशोरावस्था में झांसी में भी ३।।-४ बजे प्रातः स्नान करके अखाड़े में प्रवेश करते; पांच-सात सौ डण्ड और ढाई-तीन सौ बैठकें लगाते; फिर ज़ोर करते। नहाने लगते तो १००-१२५ बाल्टी पानी कुएं से खींचकर नहाते। शरीर क्या था, ढला हुआ फौलाद था। हर तरह का व्यायाम उन्हें सिद्ध था—लाठी, तलवार, बन्दूक चाहे जिसे आज़मा लो। क्रिकेट, फुटबाल, दौड़ में सदा आगे।

शरीर का वह बड़ा खयाल रखते थे, और मानते थे कि स्वस्थ प्रज्ञा के लिए स्वस्थ शरीर पहली आवश्यकता है; उसके लिए गिज़ा ज़रूरी है। खाने में कोई हिन्दी लेखक उन्हें मात नहीं दे सकता था—चौबे बनारसीदास भी नहीं, भले वह चौबे-शिरोमणि हों। अपने एक उपन्यास में उन्होंने गुजरात और बाद में मालवा के सुलतान मुहम्मदशाह बघर्रा की भूख का चित्र अंकित किया है कि कैसे वह सेरों शहद पी जाता था; रात को उसकी शय्या के दोनों बाजू करीने से सजाकर नानाविध भोज्य पदार्थ रखे रहते थे; आंख खुली और धड़ाधड़ चीज़ें उदर-गुहा में जाने लगीं। मुझे कभी-कभी लगता है कि शायद उन्होंने अपने निजी अनुभव के

आधार पर ही उसका ऐसा चित्र दिया होगा। छः सेर पक्का दूध तथा आध सेर जलेबियां एक बार में उदरस्थ करना उनके लिए सहज था। ४०-४२ अण्डे एक समय खा जाते थे। १२५ सन्तरे तथा २५० आम खाते भी बहुतों ने उन्हें देखा है।

इन पहलवान साहित्यकार वृन्दावन का जन्म हुआ था ९ जनवरी १८८९ ई० को मऊरानीपुर (झांसी) में। पिता अयोध्याप्रसाद सामान्य स्थिति के आदमी थे—झांसी के तहसीलदार के दफ्तर में रजिस्ट्रार कानूनगो। मां सबरानी थीं परम वैष्णवी। चाचा थे ललितपुर के ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट के अहलमद। यह एक आश्चर्य है कि उस ज़माने में मुंशियों के घर, इस बालक के हृदय में हिन्दी कैसे बद्धमूल हुई! शायद मां के भजनों तथा चाचा की किञ्चत् साहित्यिक अभिरुचि में उसका बीजोद्भव हुआ होगा। ४ वर्ष की उम्र में विद्याधर दीक्षित से अक्षरारम्भ-संस्कार हुआ था। कुशाग्रबुद्धि थे; चल निकले। १२ वर्ष की आयु में चन्द्रकान्ता सन्तति, गुलीवर्स ट्रेवेल्स, राबिंसन क्रूसो और रामचरित मानस पढ़ डाला था। इन सबका गहरा प्रभाव इनके जीवन पर पड़ा था। बाद में ललितपुर और झांसी में पढ़कर प्रथम श्रेणी में मैट्रिक किया। १२ रुपये मासिक की छात्रवृत्ति मिली। पर कुछ अपने व्यायाम-प्रेम, कुछ पिता जी का रुख देख तहसील के रजिस्ट्री दफ्तर में नौकरी कर ली। परन्तु उस रिश्वती वातावरण में इनका दम घुटने लगा। इस्तीफा दे दिया और अखाड़े में आ गए।

पिता इनके इस रंग-ढंग पर नाखुश थे। हां, मां सदा उन्हें उत्साहित करती रहीं। उन्हीं दिनों इनका सम्बन्ध कुछ बंगाली क्रान्तिकारियों से हो गया। १९०८ ई० में इनका लिखा एक नाटक 'सेनापति ऊदल' ज़ब्त भी हो गया। सी० आई० डी० पीछे लग गयी। पिता की चिन्ता का पार नहीं था; वृन्दावन भी घबराये, परन्तु मां ने फिर धीरज बंधाया। कहा—"चिन्ता न करो। आगे खूब समझ-बूझकर लिखना।" फिर एक दिन बोलीं—"तुम तो अपने देश का सच्चा इतिहास लिखने की बातें करते थे! वह सब कब करोगे? कैसे करोगे? पहले खूब पढ़-लिख लो, तभी तो अपना इरादा पूरा कर सकोगे!"

इन्हीं दिनों सैमुएल स्माइल्स का 'सेल्फहेल्प' (आत्मावलम्बन) ग्रन्थ इनके हाथ लगा। उसका भी बड़ा प्रभाव पड़ा। बस, नौकरी न करने का निश्चय कर लिया; सोचा, वकील बनना ठीक रहेगा। पर आगे पढ़ने को पैसे कहां थे? यहां भी मां सहायक हुईं। बोलीं—"मेरे पास गहने हैं। उन्हें बेचकर तुम्हें खर्च दूंगी। तुम पढ़ो।" बस, विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर, में भरती हो गये। पढ़ते रहे। १९१३ ई० में एल० एल० बी० के लिए आगरा आये। आगरा कालेज में प्रवेश लिया। १९१४ ई० में वकालत की परीक्षा पास की और १९१६ से वकालत करने लगे। पहले कुछ समय तक निराशाजनक स्थिति रही। फिर चली तो खूब चली।

इधर जीविकोपार्जन की गाड़ी कुछ रास्ते पर आई तो साहित्य-सेवा की प्रवृत्ति को भी बल मिला। यह प्रवृत्ति इनमें बहुत पहले से थी। १९०५ में तीन

नाटक लिखकर इण्डियन प्रेस से पुरस्कार पाया था। 'सेनापति ऊदल' के बाद 'महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तक प्रकाशित हो गयी। १९०९ ई० से 'सरस्वती' में भी छिट-फुट रचनाएं छपने लगी थीं। बालमुकुन्द गुप्त की शैली से वर्मा जी अधिक प्रभावित थे। १९०९ की 'सरस्वती' में राखीबन्द भाई, राजपूत की तलवार रचनाएं छपीं। आगरा में पढ़ते समय 'स्वदेश बान्धव' तथा माखनलाल चतुर्वेदी की 'प्रभा' में यदा-कदा लिखते रहे। १९२१ ई० में झांसी से 'स्वाधीन' निकाला और इसी नाम के प्रेस की स्थापना की, जो अभी तक चल रहा है।

•

लिखते तो बहुत पहले से थे किन्तु इनकी साहित्यिक प्रतिभा पहली बार 'गढ़ कुण्डार' में ही व्यक्त हुई। हम ऊपर बता आए हैं कि 'गढ़कुण्डार' कैसे और किन स्थितियों में लिखा गया था। १७ जून, १९२७ ई० को वह पूरा हुआ था। १८ जून को गुहा में पहुंचे, जहां उसे लिखने की प्रेरणा मिली थी। पुस्तक पर फूल चढ़ाए गए और लेखक ने प्रतिज्ञा की कि "मरते दम तक लिखता रहूंगा।" और अपनी प्रतिज्ञा उन्होंने एक मध्ययुगीन राजपूत सामन्त की भांति निबाही।

'गढ़कुण्डार' की पांडुलिपि स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी ने पढ़ी और मुग्ध हो गये। उन्हींने दुलारेलाल जी भार्गव से आग्रह करके उसे गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित कराया। गणेश जी तो प्रतिभाओं के सर्जक और प्रतिपालक थे। उन्होंने न जाने कितने युवकों को प्रोत्साहित किया होगा। 'गड़कुण्डार' के लेखक को वह हिंदी का वाल्टर स्काट कहते थे।

'गढ़कुण्डार' ने वर्मा जी की प्रतिभा के द्वार खोल दिए। एक आवेश उन पर सवार हो गया। उन्होंने 'लगन' लिखना शुरू किया। कभी उसी जंगली गुफा में, कभी झांसी में। उसी झोंक में 'प्रत्यागत' और 'संगम' भी लिखे गए। प्रकाश न मिलता तो टार्च की रोशनी में ही लिखने बैठ जाते।

'संगम' के बाद १९२८ ई० में 'कुंडलीचक्र' और 'प्रेम की भेंट' लिखे गए। १९२९-३० में 'विराटा की पद्मिनी' जैसी अनूठी रचना पूरी हुई।

यज्ञ के प्रथम चरण की पूर्णाहुति हुई। इसके बाद इनके साहित्यिक जीवन में एक लम्बा व्यवधान आता है। साहित्य-सर्जना की वृत्ति मन्द पड़ गई और गार्हस्थ्य-चिंता ने उसका स्थान ले लिया। सत्यदेव एकमात्र पुत्र थे। उनकी आंखें बचपन से ही खराब थीं, इसलिए वृन्दावन जी को उनके भविष्य-निर्माण की चिंता थी और वह स्वाभाविक थी। उनके जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने एक बड़ा फार्म खोला। बड़े-बड़े सपने थे; अनुभव तो था नहीं। कमाई के ५०-६० हज़ार तो उसमें लग ही गए—प्रायः इतना ही कर्ज़ भी हो गया। एक पागलपन उन पर सवार था। भूत की तरह मेहनत करते थे। हज़ारों पपीते के पेड़ लगाए; चुनी हुई किस्म के १४०० आम के पौधे रोपे। कुएं बनवाए, डायनामाइट से चट्टानों को तोड़ा। बड़ा श्रम किया, किन्तु पथरीली भूमि सरस-सजल न हुई, न हुई। पपीते से 'पैपेन' बनाने का प्रयोग किया और उसे विदेशों तक भेजा। वहां से बड़ी

मांग हुई। लाखों के आर्डर आए परन्तु यहां पपीते ही सूख गए। वर्षों के श्रम और अध्यवसाय में भयंकर टोटा हुआ। १०-१२ साल निरर्थक निकल गए। इन वर्षों में लिखते होते तो न जाने कितना लिख जाते। सब व्यर्थ गया और घर की सारी पूंजी चली गई, बल्कि उल्टे कर्ज़ भी हो गया। अब सत्यदेव से न रहा गया; उन्होंने हठ करके फार्म को सिर्फ तीस हज़ार में बेच दिया। पिता को चुपचाप बैठकर लिखने के लिए आश्वस्त किया और उन थोड़े रुपयों से अपनी प्रकाशन संस्था, मयूर प्रकाशन, का प्रारम्भ किया। पिता को अब सिर्फ लिखने से मतलब था। इस प्रकाशन-संस्थान के लिए सत्यदेव जी ने जो निरन्तर श्रम किया है वह अनूठा है और यह उन्हीं के श्रम का परिणाम था कि घर का सारा खर्च चलाते हुए भी उन्होंने समस्त ऋण-भार से पिता को मुक्त कर दिया; इतना ही नहीं, उन्हें सामान्य चिंताओं से दूर रहकर अनेक गौरवशालिनी कृतियों से सरस्वती का भंडार भरने का मौका भी दिया।

ग्रामों के वातावरण से जो प्रेम हो गया था, वह फिर भी बना रहा। १६४० में टीकमगढ़ के महाराज वीरसिंह जू देव ने इन्हें झांसी के निकट ही एक ज़मीन दी। वहां श्यामसी गांव बसाया, एक पक्का तिमंजिला मकान बनवाया और वहीं रहने लगे। अपनी अनेक कृतियां वहीं रहकर लिखीं। १६४२-४३ से ५४-५५ तक १४-१४ घंटे लिखकर दर्जनों उपन्यास, नाटक तथा अगणित कहानियों की रचना की। 'विराटा की पद्मिनी' के बाद जो लम्बा विराम आया था, वह एक झटके में खत्म हो गया और इनकी लेखन-प्रतिभा बरसाती फल्गू की धारा की भांति ज्वार से भर गई। शुरू में (१६४३ ई०) ही 'मुसाहिबजू' ऐतिहासिक उपन्यास निकला, फिर 'कलाकार का दण्ड' नाम से कहानियों का संग्रह निकला। इस बीच महारानी लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध में निरन्तर सामग्री का संकलन भी करते रहे। १२ अप्रैल, १६४६ ई० में जब 'झांसी की रानी' नामक ऐतिहासिक उपन्यास पूर्ण हुआ तो लेखक को स्वयं तृप्ति-बोध हुआ। उनकी यह रचना लोकप्रिय भी बहुत हुई; उनके यश-सौरभ से साहित्य का क्षितिज सुरभित हो गया। सम्मान मिला, और वर्मा जी पर लिखने का भूत फिर सवार हुआ। एक वर्ष के अन्दर उन्होंने पांच सफल रचनाएं हिन्दी को दीं। पहले (१६४७ ई०) 'कचनार' आया, ऐतिहासिक उपन्यास। फिर उनकी मधुर रचना आई 'अचल मेरा कोई'। यह एक सामाजिक उपन्यास है—कानपुर के एक सम्भ्रान्त परिवार की सच्ची घटना को लेकर लिखा गया है। इसी साल 'झांसी की रानी' (ऐतिहासिक), 'राखी की लाज' (सामाजिक) तथा 'कश्मीर का कांटा' (ऐतिहासिक) तीन नाटक भी सामने आए। लिखा तो एक और नाटक 'हंस-मयूर' भी इसी साल गया था परंतु प्रकाशित दो-तीन साल बाद हुआ।

१६४६ ई० में उनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'माधवजी सिंधिया' निकला और १६५० में तो अनेक कृतियां सामने आईं। इनमें 'मृगनयनी' सर्वप्रथम और सर्वोत्तम है। इसे उन्होंने महारानी ग्वालियर के आग्रह-अनुरोध पर

लिखा था। इस उपन्यास में मृदुल भावनाओं के चित्रण में वर्मा जी को जो सफलता मिली वह अभूतपूर्व है। इसके कुछ समय बाद ही 'सोना' निकला; फिर ऐतिहासिक नाटक 'हंस-मयूर' प्रकाशित हुआ; दूसरा सामाजिक नाटक 'बांस की फांस' भी इसी वर्ष छपा। एक कहानी संग्रह भी निकला। १९५१ में सात नाटक लिखकर प्रकाशित कराए। इनमें 'पूर्व की ओर', 'फूलों की बोली' तथा 'जहांदार शाह' ऐतिहासिक तथा 'केवट', 'नीलकण्ठ', 'सगुन' सामाजिक नाटक हैं। १९५२ ई० में प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'अमरबेल' प्रकाशित हुआ, यद्यपि लिखा वह पहले ही गया था। एक मित्र कहते थे कि उनके सब उपन्यासों से यह उन्हें अधिक पसन्द है। उनकी बात को ज्यों की त्यों मान लेना तो कठिन है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह एक अच्छा और सफल उपन्यास है। इसी साल 'मंगलसूत्र' भी निकला जो एक सामाजिक नाटक है। यदि मैं भूलता नहीं तो 'खिलौने की खोज' नामक, एक दूसरा सामाजिक नाटक भी उसी समय प्रकाशित हुआ था। १९५३ ई० में ऐतिहासिक नाटक 'ललित विक्रम' सामने आया। इधर काफी दिनों से उन्होंने कोई उपन्यास नहीं लिखा था; १९५४ ई० में उनका ऐतिहासिक उपन्यास 'भुवन विक्रम' निकला। फिर १९५५ में, एक ही वर्ष बाद 'अहिल्याबाई' का प्रकाशन एक घटना है। ५५ से ५७ तक 'देखा-देखी', 'आहत,' 'दबे पांव,' 'अंगूठी का दाम,' 'बुंदेलखण्ड के लोक गीत,' 'अकबरपुर के अमर वीर' इत्यादि कई पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कराईं। 'देखा-देखी' में बड़ों की जीवन-विधि की नकल करने वाले, अत: रिश्वत तथा भ्रष्टाचार के चक्र में पड़े हुए लोगों के चित्र हैं। प्रच्छन्न व्यंग-प्रधान सामाजिक नाटक है। १९६१ में 'रामगढ़ की रानी' तथा 'दुर्गावती' दो और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। १९६६ में 'ललितादित्य' तथा 'अमर ज्योति' पूर्ण कर प्रकाशित कराया। १९६७ ई० में 'देवगढ़ की मुस्कान' पूर्ण हुआ। अन्तिम समय तक वह कुछ न कुछ लिखते ही रहे।

•

वृन्दावन जी में कलम और बन्दूक का अद्भुत् समन्वय था। दोनों के प्रति उनकी निष्ठा सदा अडिग रही। शिकारी जैसे शिकार की टोह में, सम्पूर्ण मन से, लगा रहता है वैसे ही वह विषय-वस्तु की टोह में रहते थे और पकड़ में आ जाने पर उसकी पूरी शल्य-क्रिया करते थे। बुन्देलखण्ड का चप्पा-चप्पा उनका जाना और छाना हुआ था। वहां के पठार, वहां के जंगल, वहां की नदियां, वहां की हरीतिमा और चटियल अधित्यकाएं, वहां के पशु-पक्षी, लता-द्रुम और सबसे बढ़कर वहां के निवासी उनकी रचनाओं में अनुप्राणित हैं। एक भूखण्ड का समस्त जीवन उनमें प्रतिफलित है। उसके नायक ही उनके नायक हैं। इन नायकों और चरित्रों में जाति का समस्त जीवन मुखरित है। उनमें उनकी सामन्ती अंगड़ाई है; स्वाधीनता के लिए प्राण निछावर करने वालों के अजेय तेवर हैं; ज़िन्दगी की अकड़ है; अप्रतिम दैन्य और दुष्काल है; असीमित सहन-शक्ति है; दूसरों की विभूति से अकारण जलनेवालों की वक्रता है; उत्सर्ग का कवच पहने प्रेम की

हिलोर है और प्रतिहिंसा में आत्म-दहन की क्रूरता है। उनका जीवन एक महाकाव्य था, जिसके विविध सर्ग हैं उनकी रचनाएं : गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, मुसाहिबजू, झांसी की रानी, कचनार, अचल मेरा कोई, माधवजी सिंधिया, मृगनयनी, सोना, हंस-मयूर, भुवन विक्रम, अहिल्याबाई, रानी दुर्गावती, ललितादित्य, देवगढ़ की मुस्कान। उनके जीवन में बुंदेलखण्ड की मिट्टी की सुगन्ध बसी हुई थी और वही उनकी रचनाओं में भी निखरी है। हिन्दी में वही एक लेखक थे जिनमें एक व्यापक भूखण्ड का अतीत, वर्तमान और भविष्य बोलता है। मानो वह कोई विशाल राष्ट्रीय दर्पण हों जिसमें युगों के चित्र उभरते और मिटते दिखाई पड़ते हैं; उभरते हैं और मिटते हैं, पर मिट-मिटकर फिर उभरते हैं।

•

उनके विषय में एक बड़ा भ्रम हिन्दी में फैला हुआ है। लोग समझते हैं कि उनकी सफलता केवल ऐतिहासिक उपन्यासों को लेकर है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने एक से एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी को दिए हैं, किन्तु उनके सामाजिक उपन्यास भी कुछ ऐसे-वैसे नहीं हैं। फिर उपन्यासों के अलावा उन्होंने दर्जनों नाटक भी लिखे हैं और नाटककार के रूप में भी बड़ी सफलता प्राप्त की है। यही हाल कहानियों का है।

वर्मा जी की लेखन-शैली उदात्त उतनी नहीं है, जितनी सरल-सरस है। वह विद्वानों के लिए नहीं, जन-समूहों के लिए है और उसकी विशेषताएं भी वही हैं। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि यद्यपि उनके उपन्यासों के अधिकांश नायक सामन्ती युग की याद दिलाते हैं किन्तु उनमें व्याप्त वातावरण अद्भुत रूप से जनतान्त्रिक है; बल्कि मानवी है। उनमें ग्रामीण सरलता और सहजता है; हवाओं में ताज़गी है। हर आदमी अपनी भाषा बोलता है, अनलंकृत और सीधी, समझ में आने वाली। मनुष्य रूप में वर्मा जी की यह बहुत बड़ी सफलता है। एक सफल वकील होते हुए भी, उनके साहित्य में कहीं वह पेंच और वक्रता नहीं है जो वकालत के अस्त्र हैं। शिकारी के रूप में, वकील के रूप में, व्यायाम-विशारद के रूप में, साहित्यकार के रूप में, व्याख्याता के रूप में, हर रूप में यह उनका मानव ही है जो सिर पर चढ़कर बोलता है। इसीलिए महती सफलताओं एवं उपलब्धियों के बीच भी क्षुद्रतम को प्यार करने की अद्भुत क्षमता उनमें दिखाई पड़ती है। निम्नवर्गों के चरित्रों के प्रति उनमें असाधारण सहानुभूति तथा संवेदनशीलता है। उनके नायक इतिहास के पटल पर भले मर चुके हों, उनकी पटकथाओं में नित्य-जीवित हैं। वे अतीत होकर भी नित्य वर्तमान हैं; मृत होकर भी जीवित हैं।

उनके एक-एक उपन्यास ऐसे हैं जो अपने प्रणेता को अमर रखने की शक्ति से पूरित हैं। लक्ष्मीबाई, माधवजी सिंधिया, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, गढ़कुण्डार, अचल मेरा कोई, अहिल्याबाई ऐसी रचनाएं हैं जिन पर कोई साहित्य गर्व कर सकता है। प्रेमचन्द तथा प्रसाद के सिवा दूसरे किसी हिन्दी लेखक ने

अपनी कृतियों में वह सफलता प्राप्त नहीं की जो वर्मा जी को सहज प्राप्त हुई। यह उनका और हिन्दी का सौभाग्य था कि प्रथमोक्त दोनों की भांति वह शासन से उपेक्षित नहीं हुए। उन्हें अनेक देशी-विदेशी पुरस्कार प्राप्त हुए; शासन ने भी उनकी प्रतिभा की सराहना की। वह लोकप्रिय भी रहे और सत्ता से आदृत भी।

परन्तु शायद इसका कारण यह था कि वृन्दावन जी केवल साहित्य में चुक-कर नहीं रहे। उनका एक लम्बा सार्वजनिक सेवा का जीवन भी रहा है। सहकारी समितियों के संघटन में, आर्तों एवं दुखियों की सेवा में, क्रान्तिकारी युवकों को प्रोत्साहन देने में तथा नागरिक सेवाओं के क्षेत्र में भी उनका लम्बा 'रिकार्ड' है। प्रत्येक क्षेत्र में साहस उनका अनुचर रहा है। महामारी के दिनों में जब सम्बन्धी-सुहृद पीड़ितों के निकट नहीं फटकते थे, लोगों ने अकेले अपने कन्धे पर रोगियों को ढोकर अस्पताल ले जाते तथा अपने जीवन को खतरे में डालकर सेवा-शुश्रूषा करते उन्हें देखा है। अपनी चिन्ता नहीं, जीवन की चिन्ता नहीं, सर्वस्वार्पित होकर काम करते हुए।

वह विवेक-समृद्ध तो थे ही, स्नेह-समृद्ध भी थे। जिसे चाहते थे, प्राणों से चाहते थे। मित्रों में मित्र और स्नेहियों में स्नेही थे। मैथिलीशरण, बदरीनाथ भट्ट, हरिशंकर शर्मा, मुंशी अजमेरी, भगवानदास सेठ, फूलचन्द पुरोहित इत्यादि मित्रों के बीच वह उनके परिवार के व्यक्ति थे और उन्हें अपना समझते थे। ऊपर से वह गुरु-गंभीर लगते थे परन्तु बादाम की भांति अन्दर से अत्यन्त स्निग्ध और सरस थे। प्रयाग आए तो अपने स्नेह का वरदहस्त मेरे सिर पर रख गए। घण्टों बातें होती रहीं—साहित्य की बातें, देश-काल-समाज की बातें, मित्रों और स्नेहियों की बातें, घर-परिवार की बातें। लगा, जैसे हम उनके ही परिवार में पोषित पल्लवित हुए हैं। मेरी रचनाएं पढ़कर उन्होंने सदा मुझे प्रोत्साहित किया; बड़े थे, ठोस थे, किन्तु इतने विनम्र कि स्नेह-संवेदना के सामने पानी-पानी हो जाते थे। ऐसे मित्र और बन्धु, जो कभी विस्मृत नहीं करते, न विस्मृत होते हैं। 'बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं', जिनके विषय में कहा गया है, वैसे मित्र।

बड़ी-बड़ी बातों के बीच भी वह छोटी बातों को भूलते न थे। हर एक, छोटे से छोटे को ग्रहण करने और उससे कुछ ले लेने की शक्ति उनमें थी। व्यंग के तो आचार्य थे। किसी ज़माने में बदरीनाथ भट्ट और मन्नन गजपुरी के साथ 'गोलमालकारिणी समाज' का संचालन किया था। सेवा की प्यास उनमें बड़ी प्रबल थी। अपने को उन्होंने जीवन भर लुटाया, साहित्य में, सैर-सपाटे में, सार्व-जनिक सेवा-कार्य में, मित्रों में। सीधे-सरल आदमी थे, पर मध्ययुगीन बांकपन से भरपूर, अकड़बाज़ों में अकड़बाज़ और विनम्र लोगों के बीच इतने विनम्र, जैसे उनकी अपनी कोई इयत्ता न हो। कुरीतियों और अन्ध विश्वास के निन्दक परन्तु वास्तविक अध्यात्मिक श्रद्धा से अभिभूत। इस जीवन में और उसके बाहर भी वह बहुत दूर तक देखते थे।

आत्म-विश्वास से परिपूर्ण और शारीरिक तथा मानसिक क्षमता से छलकते

हुए उनके शरीर को देखकर यह नहीं लगता था कि मौत के पंजे उनको सहज ही दबोच लेंगे। बड़े उत्साह और गति से जीवन-मार्ग पर पड़ते उनके कदमों में एक धौंस थी, चुनौतियां थीं और हम समझते थे कि अभी बहुत दिनों तक सरस्वती का मन्दिर उनकी पूजा-ध्वनि से कम्पित होता रहेगा। स्वयं भी कहते थे कि मैं अभी बहुत दिन जियूंगा और बहुत कुछ लिखूंगा। बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश और भारत की कितनी ही ऐतिहासिक कथाएं उनकी कलम की नोक पर आने को इठलाती थीं और वह उन्हें अपनी कला की चौखट में उतारने को आतुर थे। परन्तु सब आशाएं और कल्पनाएं धरी रह गयीं। निरन्तर श्रम और आत्मदमन के कारण उनपर हृद्रोग का आक्रमण हुआ। तब भी वह लड़ते रहे। दो-दो आक्रमणों का डटकर सामना किया, परन्तु तीसरी बार शिथिल हो गए। ५ दिनों तक वीरतापूर्वक कष्ट झेलने के बाद, अस्पताल में २३ फरवरी १९६९ को सुबह ७ बजकर ५ मिनट पर हम सबको अनाथ करके चले गए। ८० वर्ष से अधिक वह जिये, परन्तु उनके कार्य से कहना पड़ता है कि वह शतायु न होकर भी शतायु थे।

चतुरसेन शास्त्री

उस बात को प्रायः ५४-५५ वर्ष हो गये, जब असहयोग के तूफानी दिनों में, एक ओर देशभक्ति और दूसरी ओर यौवन के सपनों में खोया-खोया रहता था। कलम से भी कविता टपकती थी और मन से भी। तभी मेरे हाथ तीन पुस्तकें लगीं :

१. प्रेमकली (देवेन्द्रकुमार जैन, आरा, द्वारा प्रकाशित),
२. उद्भ्रान्त प्रेम (बंगला कृति का अनुवाद)
३. अन्तस्तल

यों तो तीनों ने मेरे भाव-प्रवण मन को झकझोर कर रख दिया, परन्तु 'प्रेमकली' में केवल मधु-संचय था : एक संकलन; प्रेम की सूक्तियों का। वह मेरे हृदयावरण को सिहराकर चली गई। 'उद्भ्रान्त प्रेम' ने मुझे रुलाया; मैं विरह के मर्म से व्यथित और कातर होकर कई-कई दिनों तक निरुद्देश्य सपने देखता रहा—सपने जो मिट गये, उभर-उभर कर मिट गए। 'अन्तस्तल' मेरे अन्तर में घर करके बैठ गया। इसमें मनोभावों के ऐसे कलात्मक चित्र मुझे मिले, जिनको मैं अतृप्त नयनों से देखता था। देखता और पढ़ता, पढ़ता और देखता, जैसे वे शब्द न हों, शब्द के साथ शब्दातीत की आंखमिचौनी हो। खुद भी उन दिनों गद्यकाव्य लिखता था, इसलिए भी मुझे उसमें सहारा मिला, ठहराव मिला। तब से मैं उसके लेखक चतुरसेन जी[1] को जानने लगा— शायद कुछ समझने भी लगा।

फिर निकला उनका 'सत्याग्रह और असहयोग' जो किसी भी भारतीय भाषा में इस विषय का पहला ग्रंथ था। उसकी शैली मुझे छू गयी। एक अजीब मस्ती और ओज के दर्शन हुए। उसमें अन्वेषण की वृत्ति थी। पीछे तो वह ज़ब्त भी हो गया। परन्तु उन दोनों पुस्तकों ने मुझे उनका प्रशंसक बना दिया। मैं उनकी रचनाओं के प्रति उत्सुक हुआ। जहां मिलतीं, पढ़ता।

शत-शत स्वप्नाविष्ट युवकों की भांति मुझ पर भी गणेश जी[2] की सहज कृपा थी। उनका 'प्रताप' बलिपन्थ का अग्रदूत था। उसे ज़रूर पढ़ता था। कभी-कभी उसमें लिखता भी था—गद्य-पद्य। 'प्रताप' में अकसर चतुरसेन जी की रचनाएं निकला करती थीं। फौलाद में ढले शब्द होते थे; पढ़कर कलेजा बल्लियों उछलता और अनायास बुदबुदा पड़ता—-यह एक शब्दशिल्पी हिन्दी को मिला है।

१. जन्म : २६ अगस्त, १८९१ ई०, मृत्यु : २ फरवरी १९६० ई०
२. प्रताप के गणेशशंकर विद्यार्थी

(२)

स्थान : दिल्ली। समय : आज से ५०-५२ वर्ष पहले। सिर्फ हिन्दी की बात कहता हूं। तब वहां रहते थे एक लम्बे, चुस्त, कर्मठ और चण्ट पं० रामचन्द्र शर्मा। वह 'महारथी' मासिक निकालते थे : उसमें कुछ इतने तन्मय कि प्राइवेट सर्किल में उनका नाम ही 'महारथी' पड़ गया था। और उनके साथ थीं एक करामाती देवी जी। चन्द्रदेवी नाम था उनका, पर मशहूर थीं 'देवी जी' के नाम से। शर्मा भी उनको देवी जी ही कहते थे। देखने में तो यूं ही थीं, परन्तु शर्मा जी एक भक्त की भांति उनकी उपासना करते थे। सारे अभिनय का सूत्र उन्हीं के हाथ में था। पता नहीं, ये लोग अब हैं या नहीं, और हैं तो कहां हैं, क्या हैं, कुछ भी ज्ञात नहीं है। युगों से मैंने उन्हें नहीं देखा, न उनकी कोई खबर मिली। परन्तु उन दिनों शर्मा जी से काफी घनिष्टता थी। घनिष्टता का कारण केवल साहित्य था। मेरी रचनाएं अक्सर 'महारथी' में निकला करती थीं। शर्मा जी वीरभावपूर्ण साहित्य के पूजक थे और उन दिनों मैं यौवन के ओज भरे शौर्य की रचनाएं लिखा करता था।

हां, तो उन दिनों जब कभी दिल्ली जाना होता तो इन्हीं शर्मा जी के यहां ठहरता था। बाद में तो वे लोग शाहदरा जाकर रहने लगे, पर तब दीवान हाल के पास चांदनी चौक में उनका स्थान था। वहीं मेरी भेंट एक गरीब पर ईमानदार, कुछ-कुछ सनकी, सज्जन से हुई थी। नाम था हरनामदास गुप्त। कुछ ऊंचा सुनते थे; छोटा-सा प्रेस था उनका। छोटा-मोटा प्रकाशन भी था। उन्होंने मुझे दो और दिल्ली वालों से मिलाया। एक तो थे ऋषभचरण जैन। बढ़िया लेखक और उससे भी बढ़िया आदमी। राजसिक वृत्ति, शान-शौकत के प्रेमी, सदा सुगन्ध से भरे, अत्यन्त सहृदय। कई उपन्यासों के लेखक। प्रकाशन भी था। बाद में सिनेमा-सम्बन्धी सर्वोत्तम मासिक 'चित्रपट' निकाला। लाखों कमाये, लाखों गवांये। उनका घर भी मेरी बैठक का स्थान बन गया था। मेरी लेखन-शैली के प्रशंसक थे वह, और बाद में नियमित सहयोग के प्रार्थी भी। पर वैसा कुछ हुआ नहीं। काफी दिन हुए, जब सुना था कि घरेलू विषमताओं के कारण उनका सिर फिर गया। लोग उन्हें पागल कहते थे। अब कहां हैं, कैसे हैं, यह भी नहीं जानता। उनमें प्रतिभा थी और शैली भी चुटीली थी।

बहरू गुप्त जी ने जिस दूसरे आदमी से मिलाया, वही निकले चतुरसेन शास्त्री। चांदनी चौक में था उनका चिकित्सालय। वहीं पहली मुलाकात हुई थी। शायद १९२५ ई० की बात है। वह बम्बई से आकर दिल्ली में रह रहे थे और आयुर्वेद की 'प्रेक्टिस' कर रहे थे। साहित्य के माध्यम से तो परिचय पुराना ही था। लगा ही नहीं कि हम पहली बार मिल रहे हैं। दिल खोलकर मिले; परिचय पाते ही लिपट गए—जैसे बहुत दिनों के बिछुड़े दो मित्र मिले हों। यद्यपि उम्र में वह मुझसे काफी बड़े थे, परन्तु इसके कारण कोई द्विधा या अन्तर नहीं

आया। घण्टों बात होती रही : साहित्य, राजनीति, बम्बई, कानपुर, बीसवीं सदी, प्रताप, अन्तस्तल, मेरी कविताएं, उनकी रचनाएं, अल्लम-गल्लम।

तब से जब-जब दिल्ली जाता, उनसे भेंट अवश्य होती। खूब गप्पें लगतीं। १९२७ या १९२८ ई० में उन्हींके यहां मुझे पहली बार जैनेन्द्रकुमार मिले थे। तब उनको साहित्य में कोई जानता न था। वह आग्रहपूर्वक मुझे अपने घर लिवा ले गए। तब पहाड़ी धीरज में रहते थे। वहां अपनी कहानियां सुनाते रहे। मैंने देखा कि इस आदमी में प्रतिभा है, दृष्टि भी है। हिन्दी में इसका आगमन शुभ होगा। मैंने कुछ कहानियां चुन लीं। अपने साथ लेता गया और 'त्यागभूमि' में उनकी कहानी पहली बार, अपनी टिप्पणी के साथ छापी। हिन्दी साहित्य के मंच पर यह जैनेन्द्र का प्रथम अवतरण था। मैं बराबर उन्हें प्रोत्साहित करता रहा। उनका प्रथम उपन्यास 'परख' भी मेरे पास ही प्रकाशनार्थ आया था। ब्योरे के मतभेदों के बावजूद वह मुझे अच्छा लगा था और मैंने सस्ता साहित्य मण्डल से उसके प्रकाशन की सिफारिश भी की थी किन्तु उन लोगों को नैतिक आपत्तियां थीं, इसलिए वहां से वह छप न सकी।

हृदयग्राही सरल चित्र देते थे वह। किन्तु कालान्तर में उनका रूप बदल गया। वह सरल की जगह गूढ़ होते गये,—यहां तक कि एक 'भूलभुलैया' होकर रह गए। जैसा कि इस देश में अक्सर होता है, कुछ लोगों ने उन्हें चंग पर चढ़ाया और उन्हें 'प्राफेट' या नबी के चोगे से ढक दिया, जबकि वह सीधे सरल इंसान के रूप में ज़्यादा प्यारे और अच्छे थे। अब वह आड़े-तिरछे चलते और शब्दों में शब्दातीत को पकड़ने के मोह में अपने को काट-काट देते थे। धीरे-धीरे उनके साहित्य में उनकी दमित यौन भावनाएं मुखर होती गईं और 'सुनीता' इत्यादि कोरमकोर 'माडर्निस्ट' रचनाएं बनकर रह गईं। साहित्य का शिल्प उनके सामाजिक अहं में खो गया। वह जो कुछ आज हैं, दिल्ली के सत्ता, शक्ति और छद्म के वातावरण को लेकर हैं और बड़प्पन तथा पूजा प्राप्त करने के मोह में हिन्दी का एक तात्त्विक चिन्तक और कलाकार बुरी तरह डूब गया है और मज़ा यह कि न तो इसे समझता है, न समझने, सुनने को तैयार है। जो इनके शुभैषी थे या हैं, वे सब विस्मृत हैं।

मैं प्रसंग से दूर चला गया। मैं चतुरसेन जी की बात कह रहा था। न केवल साहित्य वरं चिकित्सा-जगत् में भी, तब तक उनकी काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी। काशी और जयपुर में उन्होंने संस्कृत साहित्य तथा जयपुर में आयुर्वेद का गहन अध्ययन किया था। आयुर्वेदाचार्य थे। अजमेर, लाहौर और बम्बई में अनेक जटिल एवं जीर्ण रोगियों को जीवन-दान दे चुके थे। बड़े-बड़े राजे-रजवाड़ों में प्रवेश था। खूब कमाई थी। हाथ में यश था। व्याधिजर्जर प्राणियों की सेवा का उत्साह भी था। पर साथ में साहित्य-रचना की प्यास जो थी। बहुत दिनों तक दोनों साथ-साथ चले; पर कलम का नशा चढ़ता जा रहा था। तन की भूख चिकित्सा से मिटती थी, पर मन की भूख साहित्य के सर्जन की ओर खींचती थी।

उस समय तक दोनों समानान्तर चल रही थीं। साहित्य-रचना में भी दोनों प्रवृत्तियां व्यक्त थीं। एक ओर शरीर-तालिका, व्यभिचार, पथ्यापथ्य ग्रन्थ थे और दूसरी ओर हृदय की प्यास, अन्तस्तल, बनाम स्वदेश इत्यादि।

(३)

१८९१ से १९६० तक का जीवन वैसे ज़्यादा लम्बा नहीं कहा जा सकता। किन्तु कृत कार्यों की दृष्टि से वह काफी समृद्ध और लम्बा था। इस दृष्टि से ६८-६९ की आयु में भी वह शतायु थे,—बल्कि उससे भी अधिक। उनमें अदम्य संकल्पशक्ति थी और उसे उन्होंने नित्य के कठोर अभ्यास से अनुशासित और सर्जनशील बना दिया था। हिन्दी में कहीं उसका कोई जोड़ नहीं है। गृहस्थी-संचालन, चिकित्सा और साहित्य-रचना के बहुधा परस्पर-विरोधी कार्यों को समन्वय-वृत्ति से निभाते हुए उन्होंने छोटी-बड़ी लगभग दो सौ पुस्तकें लिखीं। लिखने की यह प्यास कभी बुझी नहीं, कभी तृप्त नहीं हुई। जितना लिखा, उससे कहीं ज़्यादा उनके मस्तिष्क और कल्पना में रह गया और कलम की नोक से कागज़ पर नहीं उतर पाया।

हमारे साहित्य में उन्होंने इतना काम किया है, इतना लिखा है कि दूसरी कोई मूर्ति ऐसी नज़र नहीं आती जो उनके साथ बिठाई जा सके। कुछ ने मोल में महत् साहित्य दिया है परन्तु तोल में वह बहुत कम है। दूसरे ऐसे हैं जिन्होंने तोल में बहुत लिखा, परन्तु मोल में वह हलका बैठता है। किन्तु चतुरसेन जी ने मोल में भी बहुत दिया है और तोल में भी। सैकड़ों कहानियां लिखी हैं: विविध दृष्टि, विषय और आयाम की कहानियां। इनमें गुदगुदाहट है, नज़ाकत और छेड़ है, परन्तु सृष्टि और दृष्टि भी है, मनोरंजन है पर विवेचन भी है। उपन्यासकार तो हिन्दी में अपने ढंग के एक ही हैं। न जाने कितने और कितनी तरह के लिखे हैं: 'हृदय की परख' से 'आर्य-संस्कृति के पद-चिह्न' तक। हृदय की प्यास, खवास का ब्याह, अमर अभिलाषा, आत्मदाह, नीलमणि, वैशाली की नगर-वधू, नरमेध, रक्त की प्यास, मन्दिर की झांकी, दो किनारे, अपराजिता, आलमगीर, सोमनाथ, धर्मपुत्र, वयं रक्षामः, गोली, सोना और खून (चार भाग), आभा, उदयास्त, लाल पानी, बगुला के पंख, खग्रास, सह्याद्रि की चट्टानें, पत्थर युग के दो बुत, बिना चिराग का शहर, इत्यादि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। इनमें हृदय की प्यास, वैशाली की नगर-वधू, अपराजिता, सोमनाथ, वयं रक्षामः, गोली, सोना और खून, खग्रास, सह्याद्रि की चट्टानें तथा पत्थर युग के दो बुत तो अपनी शैली, चरित्र-चित्रण, अन्वेषण वृत्ति, चिन्तन के आयाम तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। वयं रक्षामः के लिए तो लेखक को, बर्नार्ड शा की भांति बहुत लम्बी भूमिका ही लिखनी पड़ी। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और तात्त्विक, हर तरह के उपन्यास लिखे। इस प्रकार केवल उपन्यासकार के रूप में भी वह हिन्दी में अमर हैं। परन्तु कहानीकार के रूप में कुछ कम नहीं। अक्षत, रजकण, मेघनाद, सीताराम, सिंहगढ़ विजय, वीरगाथा, लम्बग्रीव, लालारुख,

पीर नाबालिग, दुखवा मैं कासों कहौं मोरी सजनी, सोने की पत्नी, आवारागर्द, दियासलाई की डिबिया, बुलबुल हज़ार दास्तां, दही की हांड़ी, प्रबुद्ध, पतित, बाहर-भीतर, धरती और आसमान, कहानी खत्म हो गई,—इस तरह दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास लिखने या कहानी कहने का गुण उनमें सहज था। चिकित्सक के रूप में विविध जटिल मानसिक व्याधियों तथा रोगियों के सम्पर्क में आने के कारण कहानी के एक से एक प्लाट उनके आगे हाथ बांधे खड़े रहते थे।

उनका रंजक रूप जितना व्यक्त और पुष्ट है, विचारक और विवेचक रूप कुछ कम चौंकानेवाला नहीं। हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, ब्रजभाषा पर मुगल प्रभाव तथा भारतीय संस्कृति का इतिहास में विवेचक का रूप काफी प्रखर है। यों वयं रक्षामः की भूमिका भी अनोखी है। आर्यों के प्राचीन इतिहास तथा सांस्कृतिक वैभव पर यह कैसी टीका है! मैं पढ़ता था और तिलमिलाता था; इतनी चिकोटियां वह काटते हैं कि बर्दाश्त के बाहर। इसे पढ़कर मुझे याद आ गई उन्हींके एक बाल-सहपाठी भूपसिंह उर्फ़ विजयसिंह पथिक की, किसी समय जिनके नाम का डंका बजता था राजस्थान में। बिजोलियां सत्याग्रह के उस नायक ने भी अपने जीवन के अस्तकाल में, जब वह हर तरह से लाचार अजमेर में रह रहे थे, रावण या राक्षस संस्कृति एवं उसके विजयाभिमान पर काफी खोज की थी, जो पता नहीं, उन्हीं के साथ चली गई या कहीं सुरक्षित है।

फिर चतुरसेन जी ने नाटक और एकांकी भी लिखे तथा वैद्य एवं चिकित्सक के रूप में जिस विशाल साहित्य का निर्माण उन्होंने किया, वह खुद हिन्दी में एक रिकार्ड है। इस तरह के कई दर्जन ग्रन्थ उनके हैं और कुछ तो काफी बड़े हैं।

यहां मैं उनके एक और ग्रन्थ की चर्चा किये बिना नहीं रह सकता। वह है उनकी 'आत्मकहानी', जिसे उनके देहावसान के पश्चात् उनके छोटे भाई चन्द्रसेन जी ने पूर्णकर प्रकाशित कराया है। मैंने किसी भी भारतीय भाषा में इतनी मनोरंजक, सूचनासमृद्ध, विविध विषय और ज्ञान समन्वित, अपने जीवन में आये हुए व्यक्तियों की झांकियों तथा घटनावलियों से पूर्ण आत्मकथा नहीं देखी। यह आत्मकथा व्यक्तिरूप में उनके अनेक आवरणों को उघाड़कर तो हमारे सामने रखती ही है, समसामयिक सामाजिक वातावरण की भी एक झलक देती है। इसके कलेवर में कितने ही लेखों और कहानियों का मसाला सुरक्षित है।

(४)

चतुरसेन व्यक्ति का अध्ययन, विश्लेषण करने बैठें तो बड़े मज़ेदार तथ्य सामने आते हैं। प्रतिभा अक्सर बहुपक्षी होती है। चतुरसेन जी भी एक में अनेक थे। एक ओर अनगढ़, खुरदुरे, खुर्राट, कट्टर, किसी की रू-रियायत न करनेवाले, जो मन में आया और जीभ पर उतरा, उसे बिना किसी किन्तु-परन्तु के कह देने वाले,

परिणामों के प्रति बेखबर, अहं और सत्ता के प्रति चुनौती से भरे हुए, बात की बात में सारी कमाई लुटा देने वाले, अपने सामाजिक और साहित्यिक पर्यावरण के प्रति मन में खीझ और गुस्सा भरे, लाग-लपेट छोड़ राजपूतों की भांति सीधा प्रहार करनेवाले थे; दूसरी ओर अत्यन्त शिष्ट, संस्कृति के मार्दव और लोच से पूर्ण, सरल-कोमल, दूसरों के दु:ख में पानी हो जानेवाले, मित्रों के लिए सब कुछ न्यौछावर कर देनेवाले, नारी की भांति स्निग्ध तथा माता की तरह समर्पणशील, मनस्वी तथा मनोज्ञ थे।

जब मैं सोचता हूं कि तत्त्वत: भिन्न होकर भी हमारे बीच एक दीर्घकालिक स्नेह-सम्बन्ध कैसे हुआ और कैसे निभ गया तो आश्चर्य-सा लगता है। हम प्राय: विषम विचारों के व्यक्ति थे। वह कट्टर आर्य समाजी, ईश्वर और आत्मा की सनातन सत्ता को न मानने वाले, खूनी क्रान्ति के पुजारी, गांधी जी प्रवर्तित अहिंसा के प्रति शंकालु तथा प्रश्नचिह्न से भरे, और मैं सनातनी, आस्तिक, आत्मवादी, गांधी जी की अहिंसा को शौर्य की चरम परणति माननेवाला। परन्तु दोनों में कभी ठनी नहीं, निभी और अन्त तक हम स्नेह की उस थाती को सुरक्षित रख पाये, जो किसी दिन मिली थी। बात यह है कि सब विभेदों के बावजूद उनमें एक ऐसी सर्वग्राहिणी पस्ती थी जो समस्त विषमताओं को डुबा देती थी और हृदय को चुम्बक की भांति अपनी ओर खींच लेती थी। उनके जीवन, व्यक्तित्व तथा साहित्य में जो तीव्र अहम् है, उस पर मैं सदैव मुग्ध रहा हूं: वह अहम् जो साहित्यकार को किसी कीमत पर, किसी भी सत्ता या शक्ति के हाथ, बिकने नहीं देता; जो समस्त शासनादेशों और राजनीतिक अस्मिता से ऊपर है—बहुत ऊपर और जिसे त्यागकर हमारे देश की संस्कृति भ्रष्ट हुई है और जिसे खोकर, सब कुछ समर्पित करके और नि:स्व होकर जीनेवाला ब्राह्मण शूद्र हो गया है। भला, हिन्दी में एक ऐसा आदमी तो पैदा हुआ, जो साहित्य की अवज्ञा करने वाली सारी पाबन्दियों को चुनौती देने में कभी पीछे नहीं रहा। वह ज़िद्दी थे परन्तु उनकी ज़िद के पीछे एक प्रयोजन, एक तात्पर्य होता था।

मानव और मित्र के रूप में वह एक वरदान थे। हृदय के सरल, मन में कुछ भी गुह्य या अशोभन रखने में प्रकृत्या असमर्थ, जो अनुभव किया उसे परिणाम की चिन्ता किये बिना कहने में अक्खड़, लाखों कमाकर भी भुक्खड़ और पैसे को सिर पर नहीं, चरण-तले रखकर चलनेवाले, मित्रों के मित्र, शत्रुओं के शत्रु, खरे आलोचक, गधे को गधा कहने वाले, पाखण्डी और छद्मवेशी को नंगा, बेनकाब करने को आतुर, प्यार और दुलार से भरे हुए। नारी के प्रति अत्यन्त कोमल और स्त्रियों की मर्यादा के रक्षक, उनकी स्वतन्त्रता के हामी, पर इस भूमि पर अपनी ही आस्था और मूल्यों को काटकर एक के बाद एक चार-चार शादियां करनेवाले और उनमें से प्रत्येक के प्रति भावुक, प्रत्येक के प्रति प्रेमपूर्ण। मैं इस पहेली को समझने में असमर्थ हूं, सिवाय इसके कि जो प्रेम मरणान्तर जीवनों को आच्छादित कर लेता है, उसमें उनका विश्वास न हो! आत्मकहानी में उन्होंने प्रत्येक विवाह

के लिए लम्बी-चौड़ी सफाइयां दी हैं और अपनी मनोव्यथा की बातें लिखी हैं। परन्तु वह सब तथ्य पर पर्दा डालने के मानव-दंभ की कलामात्र है।

मैंने उनकी चतुर्थ पत्नी के अतिरिक्त और किसी (पत्नी) को देखा नहीं। हां, इतना जानता हूं कि प्रथम पत्नी तारावती देवी को बहुत मानते थे। तारादेवी के पिता वैद्यराज कल्याणसिंह जी से अच्छा परिचय था मेरा। अजमेर और हटुण्डी गांधी आश्रम में रहते समय उन्होंने मेरी पत्नी की चिकित्सा भी की थी। वृद्ध, सरल, अपने विषय के मर्मज्ञ और मानी व्यक्ति थे। थे उत्तरप्रदेश, बिजनौर, के परन्तु जीवन का अधिकांश राजस्थान में बीता। चतुरसेन जी के श्वसुर ही नहीं, गुरुतुल्य थे। २८ अप्रैल १९१२ को तारादेवी का चतुरसेन जी से विवाह हुआ था और १४ जून १९२३ को उनकी कारुणिक मृत्यु राजयक्ष्मा से हो गई। छः महीने भी नहीं बीते थे कि प्रियम्वदादेवी से दूसरा विवाह हो गया। १९३३ में उनकी भी मृत्यु हो गई। उसके अनन्तर ७ माह के अन्दर ही, ३ मई १९३४ को ज्ञान से तीसरा विवाह हुआ, परन्तु ८ दिसम्बर १९४४ को वह भी चल वसीं। वही दृश्य फिर दोहराया गया। ७ जून १९४५ को तीसरी की छोटी बहिन कमलकिशोरी परिणीता होकर आईं और चतुरसेन के जीवन के अन्त तक उनके सुख-दुःख में सच्ची सहधर्मिणी का कर्तव्य निभाती रहीं। आज भी वह उनकी स्मृति की रक्षा में दत्तचित्त हैं। उनके हर एक विवाह की कथा में एक यन्त्रणा है, दर्द है, करुणा और प्रेम की प्यास है—ऐसी प्यास जिसका समर्थक मैं कभी न रहा, क्योंकि वही अधिकार मैं नारी को देने में असमर्थ हूं। सिवाय इस एक बात के मुझे उनके जीवन में, एक मानव की दृष्टि से काफी पूर्णता और सीखने तथा अनुकरण करने की बहुत-बहुत बातें मिलती हैं।

(५)

१९६० ई० की ही बात है। फरवरी की दूसरी तारीख। लखनऊ में था। उस दिन अधलेटा पढ़ रहा था 'पत्थर युग के दो बुत'। शाम का झुटपुटा हो चला था। पुस्तक सामने पड़ी थी, कि रेडियो में सुना, उसका प्रणेता दोपहर को दिल्ली के इर्विन अस्पताल में चल बसा। प्रोस्टेट का आपरेशन हुआ था। फिर पढ़ा नहीं गया। उनका व्यक्तित्व और रूप मन-गगन पर मंडरा-मंडरा उठता। परिचय तो जीवनव्यापी था, बहुत पुराना था परन्तु अपने जीवन के उत्तरकाल में वह मेरे बहुत निकट आ गये थे। कई बार आये और मेरे साथ रहे। १९५७ के युवा लेखक-सम्मेलन में प्रयाग आये थे तब भी मेरे साथ ही ठहरे थे। तब की चटपटी बैठकें मन में कूजने लगी थीं। मौत के धुंधलके में लपेट लिये जाने पर भी कूज रही थीं। वह दक्षिण भारत की यात्रा से लौटे थे। पता नहीं, वहां के इतिहास की पृष्ठभूमि पर वह कितने मोहक पन्ने लिखते, क्योंकि मृत्युपर्यन्त उनमें साहित्य-सृजन की वही अदम्य निष्ठा थी, वही वेग था। मौत ने मस्ती, साहसिकता और समर्पण की भावना को ही नहीं मारा, जोश, इनकलाब और जवानी का भी गला

घोंट दिया।

वे दिन, एक युग बीत जाने पर भी बहुत ताज़े हैं, जब वैदिक इतिहास की धवल घटनावलियां, मुगल शानोशौकत के रोमांचक अफसाने, राजघरानों के लोमहर्षक रहस्य और हरम सुन्दरियों की बेबसियां, जड़ी-बूटियों के अनुभव, अपनी कहानियों की कहानियां, पाठकों के विचित्र पत्र, आर्यसमाज तथा राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी संस्मरण एवं साहित्य, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, विज्ञान और सभ्यताओं के पतन की व्यथापूर्ण कहानियां उनसे सुनने में घण्टों बीत जाते थे। मृत्यु के ३-४ दिन पहले ही उनके छोटे भाई चन्द्रसेन का पत्र मिला था कि शास्त्री जी का आपरेशन हुआ है और वह अस्पताल में मेरी नवीन प्रकाशित पुस्तक 'मीर' को पढ़ रहे हैं तथा वहां से निकलते ही उसपर लम्बी आलोचना लिखेंगे। वह पढ़ते ही रहे, मौत का झोंका आया और उनका प्रखर जीवन-दीप बुझ गया। सबको ही आकस्मिक आघात लगा तथा मर्माहत वेदना और विवशता की अनुभूति हुई।

हर साथी और आत्मीय की मृत्यु पर ऐसा ही बोध होता है। कुछ कहो, मन को कुछ भी समझा लो परन्तु मौत जीवन का वह अनुभव है जिसकी कोई तुलना नहीं। यहीं है मानव के सम्पूर्ण अर्जित ज्ञान का तिरस्कार, उसकी शक्ति का उपहास, काल का चेलेंज, जो अचानक ही आता है और मोह-माया की सम्पूर्ण पूंजी, देखते-देखते, छीनकर चला जाता है।

प्रेमचन्द गये, प्रसाद गये; गणेश जी गये; शुक्ल जी, लाला जी, पराड़कर जी गये; गर्दे जी और नाथूराम जी गये; जिनसे जीवन में सीखा-पाया, जिनके साथ उठा-बैठा, जिनकी गोद में आधुनिक हिन्दी पली, वे सब एक-एक करके चले गये और चले जा रहे हैं। कातर, डबडबाई आंखों से मैं देखता हूं; मेरी दुनिया छोटी होती जा रही है और पथिक के चतुर्दिक निर्जनता का आयाम बढ़ता जा रहा है। दिल का दयार सूना होता जा रहा है।

इस सूनेपन और बयाबानी में चतुरसेन जी का बड़ा सहारा था। उनके अट्टहास में सब किन्तु-परन्तु बह जाते थे। वह एक अदम्य निष्ठा के प्रतीक थे—ऐसी निष्ठा जो उम्र के तकाज़ों का उपहास करती है और जिसमें एक धर्मान्धता का वेग होता है; जो चेतावनियों की ओर व्यंगपूर्ण तीखी मुस्कराहट से देखती है और अपनी राह चलती जाती है। बल्कि जितना चलती है, उतना ही वेग उसमें आता है; ऐसी निष्ठा, जो जिधर निकली, उधर अविश्वासियों में भी विश्वास फैलाती चली गयी। ६८-६९ वर्ष की उम्र में दस-दस घण्टे रोज़ लिखना, और काम का लिखना उन्हीं में देखा। मौज आ गयी तो चार दिन में एक उपन्यास लिख डाला। उनकी उपासना की निष्ठा ने मेरे निराश, डूबते दिल को अक्सर आत्मविश्वास के प्रकाश से जगमग करके रख दिया है।

वही चतुरसेन जी अब नहीं हैं। कल्पना न थी कि वह इतनी जल्द चले जायेंगे। ग्रन्थ-प्रणयन की कितनी ही योजनाएं उन्होंने बना रखी थीं, परन्तु सारी

कल्पनाओं और आशाओं को झुठलाकर चले गये। ज्ञानधाम, शाहदरा की अद्भुत गुणों से भरी वह चैतन्यमूर्ति अब नहीं रही। वहां बैठे-बैठे हिन्दुस्तान के इतिहास के कितने ही अजाने पृष्ठों को कथा-साहित्य की भूमिका में बदलते रहते थे।

उनको गये भी एक ज़माना बीत गया है। दुनिया बहुत बदल गयी है। साहित्य बदल गया है। उसके परिप्रेक्ष्य तेज़ी के साथ बदलते जा रहे हैं। बहुत से चेहरे काल के अन्तराल में विस्मृत होते गये हैं। मैं भी बहुत कुछ भूल गया हूं, परन्तु चतुरसेन जी, इतने दिनों बाद भी, स्मृतिपटल पर उजागर हैं। उनकी याद आती है तो एक फफक उठती है, जिसे दबोचकर, मुश्किल से, शान्त कर पाता हूं।

हे अजेय ! तुम्हारी जय हो।

हनुमानप्रसाद पोद्दार : 'भाई जी'

बगीचे में चुप बैठा हूं। अस्तंगत सूर्य की ओर देख रहा हूं। स्वच्छ, निर्मल आकाश दूर तक दिखाई देता है। क्षितिज के एक कोने पर एकाएक एक नन्हा मटमैला चक्र दिखाई पड़ता है, और देखते-देखते भयंकर आंधी उठती है; मेरे संभलते-संभलते सम्पूर्ण आकाश पर छा जाती है, अन्धकार सारे प्रकाश को निगल लेता है; हरहराकर बूंदें आती हैं—लगातार बूंदें। फिर अजस्र जलधारा, मानो मेघ धरित्री को डुबाकर छोड़ेंगे। मैं बुरी तरह भीग गया हूं और कांप रहा हूं। कांप रहा हूं और आकाश की ओर देखता जा रहा हूं। हाथ-पांव फूल गए हैं; भाग नहीं पाता हूं। आश्रय होगा, पर सम्प्रति आश्रयहीन हो गया हूं। बस, देखता हूं और देखता हूं। पर क्या देखता हूं ? पता नहीं।

—कुछ ऐसी ही स्थिति मेरी २२ मार्च, १९७१ को हुई; जब मेरे भाई जी यानी हनुमानप्रसाद जी[1] ने गोरखपुर में अपना चोला बदल लिया। महीनों से वह बीमार थे; शंकास्पद था उनका बचना। कम ही लोग कहते थे कि वह रहेंगे। तब भी उनकी यह विदाई मुझ पर एक वज्रपात की भांति आई। बहुत पढ़ा, सुना भी है और जानता हूं कि एक दिन देह का अन्त होना है। मृत्यु तो जन्मदिन से ही अविच्छेद्य मृत्यु की भांति साथ लगी है। बापू (गांधी जी) कहा करते थे कि 'मरण ही एक ऐसा माशूक है जो कभी धोखा नहीं देता।' भाई जी से भी बहुत सुना है कि 'शरीर का क्या और इसके प्रति आसक्ति क्यों ?' परन्तु सब कुछ जानकर भी बराबर अपने को धोखा दिए जा रहा था कि अभी वह नहीं जायेंगे, नहीं जायेंगे। सो जब विदा होने की बात सुनी, तब अकस्मात् ऐसा आघात लगा कि बोला भी नहीं गया, बस सन्न रह गया। तब से दिन पर दिन बीतते गए हैं, मास-पर-मास, यहां तक कि वर्ष बीत चले और मेरी ऐसी स्थिति है, जैसे लकवा मार गया है—बुद्धि को, मन को, शरीर को। मेरी आस्था झूठी हो गई है और जैसे भाई जी नहीं विदा हुए हैं, मैं ही मर गया हूं।

कैसे लिखूं ? क्या लिखूं ? किसके लिए लिखूं ? बार-बार कलम उठाई है, चेष्टा की है, और हारकर रख दी है। लेखनी जैसे गूंगी हो गई है। उसकी पीड़ा इतनी है कि वह दहक उठना चाहती है परन्तु कुछ कह नहीं पाती। मुझे सन्देह है कि वह अनुभव भी कर पाती है। उसका दर्द जैसे अनुभूति की सीमा

१. जन्म : १७ सितम्बर, १८९२ ई०; मृत्यु : २२ मार्च, १९७१ ई०

के बाहर चला गया है।

मित्र एवं कृपालु बन्धु मेरी स्थिति देखते हैं, शायद समझते भी हैं, परन्तु समझकर भी नहीं समझते, देखकर भी नहीं देखते। बार-बार लिखने का अनुरोध करते हैं, परन्तु समझ नहीं पाते कि कैसे मैं उस अव्यक्त को व्यक्त करूं, कैसे उस वाणी को खींचकर बोलने को विवश करूं जो मौन में विसर्जित हो गयी है ? फिर किस भाई जी की बात कहूं ? लेखक, साहित्यकार और कवि ? दीनबन्धु और पर-दुःख कातर ? ध्यानी और जपयोगी ? संत और भक्त ? पत्रकार और समाज-सेवक ? साधक और तपस्वी ? परम सुहृद और बन्धु ? 'ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्वल होय'—इस महाभाव में निमग्न ? किस भाई जी की बात कहूं ? 'जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है।' जीवन की परिधि का एक-एक इंच स्थान जिनके स्नेह, शुभाशिष, करुणा, सौहार्द्र और दयादान से घिरा हुआ है, उनकी बात कैसे कहूं, क्या कहूं ?

४८ वर्ष हो गए, जब मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के बम्बई अधिवेशन के समय, जिसके वह सभापति थे, उनके प्रथम दर्शन हुए थे। मैं उन दिनों बम्बई में था। उस दिन तो जैसे बम्बई ही उनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी थी। फ्लोरा फाउण्टेन से धोबी तलाव, बल्कि क्राफर्ड मार्केट तक उनके स्वागत में आए हुए लोगों के मुण्ड-ही-मुण्ड दिखाई पड़ते थे।

उस भीड़ में उन तक पहुंचना क्या संभव होता ? दर्शन करने उनके स्थान पर गया, हिचकते, डरते, धड़कते हृदय से, उन्होंने देखते ही मुझे ललक के साथ बांहों में भर लिया। अब हम बोलते नहीं हैं। दोनों द्रवित हैं, दोनों की आंखों से आंसू टपक रहे हैं और टपक रहे हैं—वे आंसू, जो दुःख और सुख, फूल और कांटों भरे जीवन के लम्बे मार्ग में चलते हुए टपकते ही रहे, और जब वह मुझे छोड़कर चले गए हैं, तब भी टपक रहे हैं, और लगता है, शायद सदा टपकते रहेंगे। उनका टपकना ही मेरा बल है, उनका बहना ही मेरा प्रेरणा स्रोत है। वही है चिर-मिलन बिन्दु। यह है बिन्दु और सिन्धु, सिन्धु और बिन्दु के मिलन और विच्छेद, विच्छेद और मिलन का अर्घ्य।

(२)

मैं बड़े संकोची स्वभाव का आदमी हूं। जिन्हें जीवन में प्रेम किया है, बहुत प्रेम किया है, उनसे प्रायः दूर-दूर रहता रहा हूं, कम सम्पर्क रखा है। परन्तु सम्पर्क के अभाव में भी जो शाश्वत सम्पर्क हो जाता है, उसका मैं क्या करूं ? बापू जी ने एक बार लिखा था—'प्रेम बोलता नहीं। जो बहुत बोलता है, वह प्रेम नहीं।' मैं भाई जी से बहुत कम मिलता रहा हूं, बहुत कम बोलता रहा हूं, परन्तु गांधी जी के बाद मेरे जीवन को सबसे अधिक उन्होंने प्रभावित किया है, पावन बनाया है। प्रेम और स्नेह तो उन्होंने जो दिया, कोई और दे नहीं पाया। लम्बे अन्तराल में कुल शायद १५-१६ बार हम मिले होंगे, परन्तु जीवन का कोई संकट

बिन्दु नहीं, जिसमें उन्होंने भगवान के आशीर्वाद की भांति आकर मुझे उबार न लिया हो। बिना कहे, बिना बोले वह जान जाते थे। कैसे, यह मैं आज तक जान नहीं पाया। मैं संकोच-वश उनसे कटता फिरता था और वह अपनी विशाल भुजाएं बढ़ाकर मुझे पकड़ लेते, मानो कहते हों—'मेरे स्नेह-जाल से छूटकर कहां जाओगे?'

अगणित हैं उनके स्नेह की स्मृतियां और वे इतनी निजी और इतनी पावन हैं कि उनको कहना या लिखना उनकी पावनता को लजाना है। उन्होंने शुरू से मुझे अपना छोटा भाई मान लिया था और उस उत्तरदायित्व का सदा निर्वाह किया। बिना लिखे, बिना कहे, महीनों से जब पत्र-व्यवहार नहीं, मिलना नहीं, न जाने कैसे उन्हें मेरे कष्टों का पता लग जाता था। १९३९ ई० की बात है, मैं अत्यन्त मारक रोगों के पंजे में फंसी पत्नी को जलवायु-परिवर्तनार्थ दिल्ली से प्रयाग ले आया था––साधनहीन और अकिंचन। पास कोई पूंजी नहीं, क्योंकि मुझ पर उन दिनों बापू जी का गहरा रंग चढ़ा था और वह कल के लिए सोचने और संचय करने को नास्तिकता कहते और मानते थे। महीने का अन्तिम दिन था। मैं बाहर चबूतरे पर बैठा चिन्ता में निमग्न था। मेरे पास कुल ३-४ रुपये बच रहे थे और पहली तारीख (आनेवाले कल) को ग्वाले, महरी, महाराजिन, मकान-मालिक सबको पैसे चुकाने थे। मैं नया-नया आया था और अपरिचित था। मेरे अपनी स्थिति बताने पर कोई विश्वास ही क्यों करता? सो बैठा हुआ, आंखें मूंदे भगवान को पुकार रहा था––'कैसे होगा? क्या होगा?' पत्नी के गहने एक-एक कर पहले ही बिक चुके थे। आंखें मेरी वन्द हैं और 'निरालम्बमीशं' के प्रति गुहार के साथ भी अपनी विवशता और असहाय अवस्था पर आंसू गिर रहे हैं। अचानक एक पोस्टमैन आता है। मैं अपने में इतना डूबा हूं कि मुझे कुछ भान नहीं होता। पोस्टमैन पुकारता है––"बाबू जी! आपका बीमा है।" अब मैं सोच रहा हूं कि जो सज्जन पहले इस मकान में रहते रहे होंगे, उनका होगा। इस लिए सूखी हंसी हंसकर कहा—"भैया, मेरा बीमा नहीं होगा" परन्तु 'देखिए तो' कहकर उसने उसे मेरे हाथ में पकड़ा दिया। सचसुच मेरा ही है। तीन सौ रुपयों का बीमा है, 'कल्याण' से आया है। इस बीमारी के कारण लगभग डेढ़ साल से मैंने भाई जी को कोई पत्र नहीं लिखा था, कोई हाल-चाल उन्हें मालूम न था। हां, उनके अनुरोध पर पहले मैंने 'कल्याण' में कुछ लेख लिखे थे। 'कल्याण' प्रायः पारिश्रमिक नहीं देता, न उसकी कोई बातचीत थी, न मांग थी। आज तक मैं न जान सका कि भाई जी को कैसे मेरे नये पते का ज्ञान हुआ और कैसे उन्होंने बिना किसी भूमिका या पत्र के, पर्दे की ओट में छिपे दीनबन्धु की भांति, वे रुपये भिजवाए। पूछने पर वह हंस देते थे; कभी बताया नहीं।

अब मेरी हालत सुनिए। बीमा लेना तो मैं भूल गया हूं, आंखें पुनः मुंद गयी हैं और आंसू गिर रहे हैं। पोस्टमैन घबरा गया है और कुछ देर तक ठगा-सा देखता रह जाता है। फिर मेरा कन्धा हिलाकर कहता है—"बाबू जी, क्या बात है? रसीद पर दस्तखत तो कीजिए।" मैं हस्ताक्षर करता हूं परन्तु रोए जा रहा

हूं और रोए जा रहा हूं। यह जीवन में भगवद्दर्शन है और भाई जी भगवान के आवाहक हैं।

एक बार की बात है, सरदार शहर (राजस्थान) के कन्हैयालाल जी दूगड़ और मोहनलाल जैन ने, जो मेरी रचनाओं तथा विचारों के अध्येता और प्रशंसक थे, अपने खर्चे से मुझे वहां बुलाया था। जैन धर्म के एक सम्प्रदाय के आचार्य की शिक्षाओं के विषय में वे मेरी सलाह चाहते थे। मैं गया। मुझे मालूम नहीं था कि भाई जी रतनगढ़ में हैं। रतनगढ़ में गाड़ी बदलनी थी। भाई जी को मालूम हुआ, तुरन्त उन्होंने आदमी दौड़ाया। लौटते समय रतनगढ़ ठहरने का वचन लिया। लौटने पर मुझे अपने पास ठहराया। उस समय उनकी इकलौती पुत्री सावित्री-बाई ही उनके साथ थी, उनकी देख-रेख के लिए। उस समय उसका विवाह नहीं हुआ था। कमरे में मैं हूं और भाई जी हैं। हम दोनों आमने-सामने बैठे हैं। बोलना चाहते हैं पर बोल नहीं पा रहे हैं। बड़ी कठिनाई के साथ अस्फुट-से कुछ शब्द निकलते हैं। स्नेह की सघनता में वाणी खो-खो जाती है। ऐसा दिव्य और प्रायः मौन स्नेह-सत्संग मुझे जीवन में बहुत ही कम मिला है। बाद में मैंने सुना कि भाई जी ने संस्कृत के तरुण कवि अद्‌भुत शास्त्री इत्यादि के अनुरोध पर मेरे एक व्याख्यान का आयोजन करना स्वीकार कर लिया है। वही उस सभा के सभापति भी होंगे। मैंने उनसे और मित्रों से बहुत कहा—"जहां स्वयं कल्पवृक्ष वर्तमान हो, वहां भला मैं क्या कह सकूंगा ? फिर भाई जी के सामने मेरा मुंह खोलना शिष्टा-चार के भी अनुकूल नहीं।" परन्तु उनका अनुरोध या आदेश निरस्त नहीं हो सका। शाम को मुझे रतनगढ़ का विशाल पुस्तकालय दिखाया गया, फिर सभा हुई। अच्छी उपस्थिति थी। मैं डेढ़-दो घण्टे भारतीय संस्कृति की रूपरेखा पर बोला। भाषण का अन्त हुआ और भाई जी मुझसे लिपट गये तथा स्तुति का अन्त कर दिया। ज्यों-ज्यों वह कुछ कहते, त्यों-त्यों मैं संकुचित होता जाता। इस विषय पर उनकी उपस्थिति में मैं कुछ कहने का अधिकारी नहीं था। बस इतना ही कहकर उन्हें नमन किया कि 'भारतीय संस्कृति का सदेह महाकाव्य जहां वर्तमान है, वहां मेरी इस धृष्ट शिशु-लीला को प्रोत्साहन तो मिलना ही है।'

तब से मेरी रचनाओं और मेरी चिन्तन धारा के वह एक उदार पोषक बन गए। कई बार 'कल्याण' में उन्होंने मेरे ऐसे लेख भी छापे हैं जिनमें उनकी विचार धारा से किञ्चित् भिन्न मत व्यक्त हुआ था। मेरी नारी-समस्या-विषयक रचनाएं उन्हें विशेष प्रिय थीं और भारतीय नारी के लिए मैं जिस मार्ग को अपनाने की बात कहता रहा हूं, उसके वह प्रबल समर्थक थे। अपने परिवार या मित्रों के परि-वार में किसी कन्या के विवाह का निश्चय होता तो वह मुझसे उस अवसर के लिए दो-चार शब्द लिखने का आदेश अवश्य कर देते थे। यह सब ममतावश ही था। इस सम्बन्ध में मुझे एक बात याद आ गई है। जब श्री सावित्रीबाई का विवाह हुआ, मैं अपनी विवशताओं के कारण उसमें सम्मिलित न हो सका। यह उनकी एकमात्र संतान का मंगलोत्सव था। मेरी आर्थिक स्थिति भी अच्छी न थी। मेरी

रुग्णा धर्मपत्नी का अनुरोध था कि 'जा नहीं सकते तो कुछ उपहार तो भेजना ही चाहिए।' बड़ा संकोच था, क्या भेजूं? बड़े-बड़े उपहारों के बीच मैं जो कुछ भेज सकूंगा, उसकी क्या बिसात? अन्त में बड़ी हिचकिचाहट के बीच मैंने पोस्ट पार्सल से खादी की एक साड़ी भेज दी। जैसा कि मेरे अनन्य बन्धु (अब स्वर्गीय) भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के पत्र से ज्ञात हुआ, सचमुच एक-से-एक बहुमूल्य उपहार आए थे, अधिकांश भाई जी ने विनयपूर्वक लौटा दिए, किन्तु सुदामा की भेजी वह साड़ी न लौटा सके, उसे प्रेम का चिह्न मान रख लिया।

•

राजस्थान से मेरा बहुत सम्बन्ध रहा है। मैं उसे अपनी दूसरी मातृभूमि मानता रहा हूं। किसी समय वहां का युवा वर्ग मुझे बहुत चाहता था, मेरे विचारों तथा रचनाओं का प्रेमी था। वहां से चले आने के बाद भी, उनके अनुरोध की रक्षा के लिए बीच-बीच में मुझे राजस्थान के दौरे करने पड़ते थे। १९३८ ई० में, जब मैं दिल्ली में रह रहा था और मेरी पत्नी बहुत बीमार होकर अस्पताल में पड़ी थी, कई युवा मित्रों के अनुरोध पर मुझे राजस्थान जाना पड़ा। कई स्थानों का कार्यक्रम था और ज़्यादा दिन मैं रुग्णा से दूर भी नहीं रह सकता था। जाते समय रतनगढ़ में श्री भाई जी के दर्शन किए। लौटते समय भी रास्ता उधर से ही था, किन्तु गाड़ी बदलने में केवल दो-ढाई घण्टे मिलते थे और उसमें वहां से आरक्षण मिलने की भी संभावना न थी। भाई जी ने कहा था कि 'सब प्रबन्ध हो जाएगा, आप बिना मिले न जाइएगा।' लौटते समय उतरा, सामान स्टेशन पर छोड़ा और तांगे पर जाकर उनके दर्शन किए। उनके दो मधुर बोल और आशीर्वाद पाकर निहाल हो गया। प्रेम के आंसू चारों नयनों में छलछला आए। उनकी तबीयत खराब थी, नहीं तो स्टेशन चलने को तैयार थे। गए नहीं, परन्तु अपने सुहृद, सेवा के रस में आकण्ठ-निमग्न दुलीचन्द जी को सब व्यवस्था करने का आदेश देकर साथ भेजा। मेरी अनुपस्थिति में ही बीकानेर तार देकर रिज़र्वेशन भी करा दिया था। दुलीचन्द जी के साथ मेवा-मिष्ठान्न-फल भी भेज दिए थे। गाड़ी आई, मैं बैठ गया। जब गाड़ी चलने लगी, तब दुलीचन्द जी यह कहकर कि 'भाई जी न आ सके, इसलिए यह पत्र दिया है,' उतर गए। अब स्थिर होने के बाद मैंने पत्र खोला तो देखा उसमें सौ-सौ रुपयों के कई नोट हैं और स्वीकार करने का अनुरोध। मैंने लौटने के बाद उन्हें पत्र लिखा कि इस समय तो मुझे कोई आवश्यकता न थी। फिर भी उनको धन्यवाद दिया था और कृतज्ञता प्रकट की थी। कृतज्ञ हृदय से निकले, उस स्नेहमूर्ति की प्रशंसा के कुछ शब्द भी थे। उसका जो उत्तर उन्होंने दिया, उसे एक वही दे सकते थे। मेरी प्रशंसा से उन्हें गहरी वेदना हुई थी। कई निजी बातों के बाद उन्होंने लिखा—"(आपके) पत्र की भाषा से ऐसा अनुमान हुआ कि मेरे इस व्यवहार से आपको कुछ संकोच में पड़ना पड़ा है। आपके ऊंचे शील के लिए यह स्वाभाविक ही है। परन्तु मेरी प्रार्थना यह है कि आप किसी प्रकार का ज़रा भी संकोच न रक्खें। उदारता का मूल्य चुकाने की बात न सोचें। मैं सत्य कहता हूं,

भगवान साक्षी है, मैं उदारता से बहुत दूर हूं, और न मैं भगवद्भक्त ही हूं। आप को यदि कुछ ऐसा दीख पड़ा तो उसमें प्रधान कारण आपकी शुभ भावना और वृत्तियों की पवित्रता ही है। मैं विनयपूर्वक चाहता हूं कि इस सम्बन्ध में आप एक शब्द भी मुझे न लिखें और न मुझे अपने एक भाई के अतिरिक्त और कुछ भी समझें…"

किन्तु जब हृदय भरा हो, कृतज्ञता की भाव-गंगा कहां रुक पाती है! मेरी कृतज्ञताजन्य स्तुति से भरे एक साधारण-से पत्र का जो उत्तर उन्होंने भेजा था, वह उनके विगलित हृदय के अश्रुबिन्दुओं से जगह-जगह धूमिल हो गया था। इस समय वह मिल नहीं रहा है। इसमें उन्होंने इस आशय के शब्द लिखे थे—"आप तो मेरे सच्चे हितैषी हैं। कम से कम आपको तो कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे मेरी वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने में अवरोध आवे।…"

यह थी उनकी अन्तर्भावना, यह थी उनकी सरलता। देते हैं, परन्तु देने की कोई भावना नहीं, भावना क्या, उसकी अनुभूति ही नहीं है। वह कोई धनिक नहीं थे; वर्षों पूर्व सब व्यापार-व्यवसाय छोड़ बैठे थे। 'कल्याण' से भी कुछ नहीं लेते थे, न अपने लिए किसी से कुछ मांगते थे। कभी-कभी उन पर कर्ज़ हो जाता था। सच्चे अर्थों में भगवान ही उनके अवलम्ब थे, वही साधन जुटाते थे। परन्तु निःस्व होकर भी उन्होंने शत-शत प्राणियों की सहायता की है और उसका कहीं कोई विवरण नहीं, सब गुप्त ही रहा और आज भी गुप्त है। देते थे और सचमुच भूल जाते थे। उन्हें याद ही नहीं रहता था कि इसको कभी कुछ दिया है। मैं स्वयं बार-बार इसका अनुभव कर चुका हूं। एक बार की बात है, मित्रों ने मुझे ज़बर्दस्ती एक प्लाट लिवा दिया और सरकार से निर्माण के लिए आठ हज़ार ऋण भी दिलवा दिया। मैंने कभी यह सूचना उन्हें भी दी होगी। उसके बाद जब उनसे मिला, तब बोले—"आठ हज़ार में कहीं मकान बनता है? अच्छा, मैं दे दूंगा।" मैंने किसी से अपने निजी कार्य के लिए सहायता लेने में संकोच प्रकट किया। जब बापू जी ने मेरी पत्नी के लिए बम्बई के मित्रों से सहायता दिलाने की बात कही थी, तब भी मैंने विरोध किया था। एक भाई जी ही ऐसे थे, जो मुझे अपना समझ कर, बड़े भाई के रूप में, मेरा बोझ उठा लेते थे और मैं उस सम्बन्ध को मानकर उनके प्रेम-जाल में फंस चुका था। वह अपवाद थे। किन्तु उनके पास तो पैसे थे नहीं। बड़ी बहस के बाद तय हुआ कि वह बिना ब्याज के किसी मित्र से रुपये दिला देंगे और मैं अपनी सुविधा से धीरे-धीरे उसे चुका दूंगा। ऐसा ही हुआ। ४-५ वर्ष बाद जब प्रसंगवश मैंने मकान की बात कही, तब उन्हें उसके विषय में कुछ भी स्मरण नहीं था।

फिर तो वह मेरे सरपरस्त ही हो गये। जब कभी मैं उनके दर्शन करने जाता, तब स्व० गोस्वामी चिम्मनलाल जी या किसी विश्वसनीय बन्धु को लेने स्टेशन अवश्य भेजते। लौटने के दिन मेरे रिज़र्वेशन वगैरा की सब व्यवस्था करा देते, भोजन ज़रूर कराते और आज्ञा देते—"जाते समय मिलकर जाना।" विदाई लेने

जाता तो कमरे में कोई होता तो उसे बाहर जाने को कहते। मैं प्रणाम करता, वह मेरे सिर पर हाथ रखकर थपथपा देते, फिर मुस्कराकर एक बन्द लिफाफा पकड़ा देते। इन्कार करने पर कहते—"यह मेरा दायित्व है।" वह जन्म-भर अपना दायित्व निभाते रहे और यह मेरा परम दुर्भाग्य है कि मैं उनकी कोई सेवा न कर सका। अपना दुःख प्रकट करने पर वह कहते : "आप इसी प्रकार अपने विचार लोगों को देते रहें, यही मेरी सेवा है।" उनकी बंद लिफाफे वाली वृत्ति जब बहुत बढ़ गयी, तब इच्छा होते हुए भी मैं उनके दर्शनों से लम्बी अवधि तक अपने को वञ्चित रखने लगा। किन्तु जाऊं या न जाऊं, इससे कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं था। मेरे कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का भार बिना कहे-सुने ही उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था। प्रायः मुझसे कहा करते थे—"समय बहुत बदल गया है; अब पुराने लोग नहीं रहे, जो मेरी बात पर शुभ कर्म के लिए सब कुछ करने को तैयार रहते थे। अब तो 'सत्ता' और 'देन-लेन' की बात है। व्यापार से धर्म का लोप होता जा रहा है। लोग मेरे पांव छूते हैं, परन्तु बात नहीं मानते। एक न एक बहाना करके टाल देते हैं।" इस बदले हुए असत् वातावरण में उनका दम घुटता था।

समुद्र की लहरें तट की ओर आती हैं, चट्टानों से टकराती हैं, लौट जाती हैं; परन्तु फिर-फिर आती हैं। उनका आना नहीं रुकता; यह उनका स्वभाव है। भाई जी के लिए भी यही बात थी। स्नेह की वृत्ति उनमें सहज थी। वह अपनी करते ही रहते थे, जिसे अपना लिया, उसका सुख-दुःख सब उनका हो गया। उसकी चिन्ता वह जबर्दस्ती ओढ़ लेते थे। यही है भगवद्वृत्ति। भगवान जिसे अपनाते हैं, उसका सब भार अपने ऊपर ले लेते हैं। आज हम सबको लगता है, जैसे हम अनाथ हो गये हैं। जीवन में आई हुई जेठ की दुपहरी की तपन में स्नेह की वह शीतल छाया अब कहां है, जिसके नीचे हम अपने को सुरक्षित अनुभव करते थे।

(३)

शील के तो वह समुद्र ही थे। इस मामले में किसी के लिए कोई भेदभाव न था। अत्यन्त महत् होकर भी वह अपने को सबसे छोटा समझते थे। मैं उनसे हर तरह छोटा था, फिर भी वह अपने वशभर मुझे अपना चरणस्पर्श नहीं करने देते थे। जब तक शरीर में शक्ति थी और अपने छत पर के कमरे से नीचे उतरते थे, मेरे गोरखपुर जाने पर कम-से-कम एक बार स्वयं चलकर अतिथि-निवास तक मिलने आते थे; जब न आ सकते या न आने योग्य होते, तब बार-बार अपनी विवशता प्रकट करते और सचमुच संकुचित तथा दुःखी होते। अपने कर्तव्य के प्रति उन-जैसा जागरूक व्यक्ति मैंने नहीं देखा। यदि किसीको किसी की देख-रेख या सेवा पर लगा देते और उससे कोई असावधानी होती तो उसे अपनी ही त्रुटि मानकर पश्चात्ताप करते थे।

बहुत-से लोग उन्हें धर्मज्ञ समझते थे, किन्तु वस्तुतः वह 'अनेक रूपरूपाय' थे। उनमें विविध विद्याओं और गुणों का ऐसा समन्वय था कि विचार करने पर

आश्चर्य होता है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के, उनके सैंकड़ों पद हैं जो उनके अन्तर्मार्दव से ओतप्रोत और उल्लसित हैं। उनसे प्रेम, समर्पण और भक्ति का रस बहता है और अष्टछाप के भक्त कवियों की याद ताज़ा हो जाती है। सरल, प्रसादपूर्ण, मधुर पदावली उनकी कलम से अधिक उनके हृदय से निकलकर आती है। कवि की हैसियत से उनका एक विशिष्ट स्थान है। खेद है कि उनकी इस साहित्यिक सिद्धि की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, यद्यपि उन्होंने बहुत लिखा है और बहुत अच्छा लिखा है। उनकी यह रस-सृष्टि इतनी सहज है, कि कहीं भी उसमें प्रयत्न की गन्ध नहीं है; जैसे पारिजात पुष्प की नाईं वे स्वयं ही आराध्य-चरणों पर चू पड़ी हैं।

सम्पादन में तो दो ही तीन नाम उनके साथ रखे जा सकते हैं। आई हुई रचनाओं पर वह बड़ा परिश्रम करते थे, प्रायः उन्हें फिर से लिखते। जब तक सब सामग्री पर एक बार नज़र न डाल लेते, उन्हें सन्तोष ही न होता था। उन्होंने कई बार मुझसे कहा कि अब पहले-जैसी परिमार्जित रचनाएं और शुद्ध भाषा-शैली दिखाई नहीं पड़ती। लेखक के रूप में कठिन विषय को सुबोध शैली में समेट लेने के तो वह आचार्य थे। देशभक्ति में वह बहुत आगे थे और राष्ट्रीय जागरण का प्रत्येक युग उनके सक्रिय सहयोग और पथ-दर्शन से ऊर्जस्वित हुआ है। वह इस देश की धरती को बड़ी गहराई से प्यार करते थे और उसके सर्वोत्तम प्रतिनिधियों में से एक थे। तिलक, मालवीय और गांधी, तीनों उनके राष्ट्रीय अनुराग में प्रस्फुटित हुए थे। भारतीय संस्कृति उनमें अपनी सीमा पर पहुंची थी। उनकी मानवता साम्प्रदायिक या क्षेत्रगत बन्धनों के ऊपर थी। वह भक्ति के रस में आकण्ठ डूबे हुए, प्रभु के प्रति सम्पूर्णतः समर्पित और सौहार्द के आकर थे। निरभिमानता, मृदुलता, परदुःखकातरता, शालीनता——कोई ऐसा गुण दिखाई नहीं देता, जिसका उनमें आदर्श रूप में विकास न हुआ हो।

•

परन्तु मेरी समझ में श्री भाई जी की सर्वाधिक सफलता दो बातों को लेकर थी: प्रभु के चरणों में पूर्ण समर्पण (यही थी उनकी सिद्धि) और यशैषणा पर पूर्ण नियंत्रण (यही थी उनकी साधना, जो व्यवहारतः स्वयं एक महती सिद्धि है)। जीवन में विविध प्रान्तों, प्रदेशों, क्षेत्रों, संस्थाओं एवं महत् व्यक्तियों से सम्बद्ध रहा हूं। मैंने बड़े-बड़े योगी-यती, मुनि-महात्मा और आचार्य देखे हैं; संसार-त्यागी संन्यासियों के सम्पर्क में आया हूं, परन्तु ऐसा एक आदमी भी नहीं मिला, जो इस विषय में उनके समकक्ष हो। घर-गृहस्थी, धनैषणा और संसार का त्याग करना भी अपेक्षाकृत सरल है; परन्तु यश और प्रशंसा की एषणा का त्याग अत्यन्त कठिन है। बड़े-बड़े संसार-त्यागी और सिद्धिप्राप्त महात्मा प्रशंसा एवं स्तुति के वचन सुनकर फूल उठते हैं, सन्तोष एवं अहं की तृप्ति का अनुभव करते हैं। एक भाई जी को ही देखा, जो स्तुतिवाक्य सुनकर कछुवे की भांति सिकुड़ते जाते थे और प्रशंसा के वचन उन्हें विष की भांति लगते थे। विविध क्षेत्रों में

लम्बी सेवा और साधना के जीवन के बाद भी भाई जी ने, जीते-जी अपने विषय में कुछ लिखा जाना कभी स्वीकार नहीं किया। उनकी साधना के साक्षी एक अत्यन्त सुहृद ने अपनी अनुभूत बातों और प्रच्छन्न घटनाओं को लिखकर एक बार उन्हें दिया कि देख लें, कोई गलत बात तो लिखी नहीं गयी है। वह केवल एक रिकार्ड छोड़ जाना चाहते थे, क्योंकि उन बातों को दूसरा कोई न जानता था। भाई जी ने उस समय तो उन्हें रख लिया किन्तु बाद में उसे आग में डाल दिया। उनके पूछने पर कह दिया कि किसीको उनके जानने की ज़रूरत नहीं थी, इसलिए जला दिया। एक बार स्व० पुरषोत्तमदास जी टण्डन ने स्वप्न-प्रेरित हो सात पृष्ठ का एक लम्बा पत्र उन्हें लिखा, जिसमें उनकी स्तुति भरी थी और दिव्य गुणों की प्रशंसा थी। उसे भी उन्होंने नष्ट कर दिया और टण्डन जी को लिख दिया कि यह सब आपकी खामखयाली और कल्पना मात्र है, अन्यथा मैं बहुत साधारण व्यक्ति हूं और आपका बालक मात्र हूं।

उनके मित्रों, सहयोगियों, अनुयायिओं ने उनको अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का कई बार यत्न किया, चुपके-चुपके तैयारियां भी कर लीं परन्तु भाई जी के कानों में भनक पड़ते ही वह लताड़ पड़ती थी कि हारकर, चुप बैठ जाना पड़ा। एक बार उनके एक भक्त एवं प्रशंसक ने कुछ लोगों को गोपनीय पत्र भेजे कि 'भाई जी की जन्मतिथि के समय वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उन पर लेख लिखकर प्रकाशित करावें।' जब भाई जी को पता लगा, तब उनको बड़ा दुख हुआ और उन्होंने अपने हाथ से एक-एक व्यक्ति को पत्र लिखा और विनय की कि वे अपना बहुमूल्य समय ऐसे तुच्छ कार्य में न लगाकर किसी महत् कार्य में लगायें। मैंने बहुत खीझकर उन्हें लिखा कि 'आखिर इस विषय में आपका इतना आग्रह क्यों है? जो लोग आपके पावन चरित से कुछ सीख सकते हैं उन्हें आप इस लाभ से वञ्चित क्यों करते हैं? आप 'तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी' क्यों नहीं हो जाते?' परन्तु हवा में चमकाये जाने वाले खड्ग की भांति कोई झंकार भी न हुई और मेरा वार खाली गया। मिलने पर भाई जी ने बड़ी विनम्रता से कहा—"आप तो मेरे हित की कामना रखते हैं आपको तो ऐसा नहीं करना चाहिए, जिससे इन्द्रियवृत्ति प्रबल हो। स्तुति के शब्द कानों को प्रिय लगते हैं इसलिए उनसे दूर ही रहना चाहिए। संसार में जो सीखना चाहें, उनके लिए एक-से-एक पावन चरित के उदाहरण हैं। मुझ कंगाल के पास क्या है?" उनके इन दैन्य भरे शब्दों को सुनकर अपने पत्र-लेखन पर मुझे ग्लानि हुई। जब उन्होंने 'भारतरत्न' जैसी सर्वोच्च उपाधि तथा और भी कितने ही बड़े-बड़े प्रलोभनों को तिनके की भांति ठुकरा दिया, राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद और पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के एतद्विषयक अनुरोध पर कान नहीं दिया तथा उस ठुकराने और कान न देने में अपनी ही अयोग्यता या असमर्थता को कारण बताकर विनम्रता एवं सहज त्याग का आदर्श उपस्थित किया, तब उनकी यशैषणा के प्रति अनासक्ति पर और क्या कहा जाय? ऐसे व्यक्ति के विषय में, जिसका अधिकांश अतल सागर-गर्भ में बहते हुए

'आइसबर्ग' की भांति संसार की दृष्टि से ओझल है, लेखनी क्या लिखेगी ? वाणी क्या प्रकट करेगी ? वह तो एक होकर भी बहुत, गृहस्थ होकर भी योगी और संसारी होकर भी असंसारी थे। वह ऐसे महत् थे जिनकी महत्ता के सम्पूर्ण बिन्दु संसार कभी न जान पाएगा।

(४)

इधर अनेक वर्षों से उनका शरीर उस श्रम को बरदाश्त नहीं कर पाता था, जो वह निरन्तर करते रहते थे। मैंने कई बार लड़कर उनसे सम्पादन का कुछ काम छीन लिया। वह उस समय तो मेरी बात मान जाते थे, परन्तु बाद में चिर-अभ्यस्त की भांति उसे स्वयं ही करने लगते थे। 'कल्याण' का कोई पृष्ठ बिना उनके देखे नहीं छपता था। विषय-सूची तक वह स्वयं देखते थे। एक बार जब नहीं रहा गया, तब मैंने उनसे कहा—"शरीर नाशमान है, असत् है, परन्तु वही देवता का मन्दिर भी है। इसी असत् की आड़ में सत् की प्राप्ति संभव है। तब आप उसके प्रति इतने निष्ठुर क्यों हैं ?" बोले—"निष्ठुर तो नहीं हूं, परन्तु अधिक आसक्ति भी तो ठीक नहीं है।" मैं क्या कहता ? बात असल में यह थी कि अपना गृहीत काम दूसरों से कराने में उन्हें सदा संकोच रहता था। इन सब उपेक्षाओं के कारण तथा अत्यन्त व्यस्त वातावरण में शरीर के अन्दर छिपे हुए रोग पनपते रहे और अन्त में असाध्य बन गये।

फिर रोग का तो एक बहाना-भर था। पिछले अनेक वर्षों से चतुर्दिक निरन्तर पतनशील वातावरण का प्रतिकूल प्रभाव उनके अत्यन्त उच्च, संवेदनशील एवं आकुल हृदय पर पड़ रहा था। आज के सत्तालोलुप और स्वार्थपूर्ण परिवेश में वह अपने को स्थानच्युत-सा, 'मिसफिट'-सा, पाते थे। प्रायः बातचीत में वह साहित्य, समाज, राजनीति के गिरते हुए स्तर एवं युग की क्रूर तथा भोगवादी प्रवृत्तियों पर आन्तरिक व्यथा प्रकट करते थे। व्यापारी-समाज में पहले जो ईमानदारी, धर्मभावना, उदारता एवं दान की वृत्ति थी, वह तेज़ी से समाप्त होती जा रही है, इसका भी उनके चित्त पर बड़ा असर था। ऐसे और भी अनेक हेतुओं से इस संसार में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं रह गया था। फिर कोई ऐसा कर्तव्य भी शेष न था, जो जीने की ललक उत्पन्न करता। फलतः वह तीव्र गति से अन्तर्मुख होते जा रहे थे। रसेश्वर और रसेश्वरी की आराधना करते हुए, वह उनमें विलीन होते जा रहे थे। वह उनकी लीलाओं को प्रत्यक्ष देखते थे और देखते-देखते स्वयं लीला बनते जा रहे थे, उसमें खो-खो जाते थे। प्रायः यह स्थिति होती जा रही थी कि आंखें खुली हैं, परन्तु दृष्टि का लोप हो गया है; कान कुछ सुन नहीं पाते; जप की माला गिर-गिर पड़ती है। इन्द्रियां निष्क्रिय हो जाती हैं; घण्टों शरीर चेतना-शून्य—जैसे जिस स्थिति में है वैसे ही—पड़ा रहता है। जब मैंने यह पहली बार १९६७ ई० में देखा, तब मन ने कहा—'यह शरीर अधिक दिन नहीं रहेगा। आत्मा उसे छोड़ती जाती है। भाई जी एक अतिन्द्रिय लोक में चले जाते

हैं और फिर उस ऊर्ध्वलोक से इस जगत् तक आने में उन्हें बड़ा श्रम पड़ता है, अच्छा भी नहीं लगता।' उनकी यह स्थिति— यह भाव-समाधि, बाद में रोज़ की चीज़ हो गयी। मेरी समझ से यही दो कारण हैं— चतुर्दिक गिरता आचरण-स्तर तथा रसेश्वर-रसेश्वरी के सूक्ष्म, अतीन्द्रिय भाव-लोक में सबका लोप—जिनके कारण वह इस लोक को छोड़ गये। वह स्वयं पूजा की नित्य दीप-शिखा बन गए थे। इस जगत् के होकर भी वह मानो इस जगत् के नहीं रह गये थे। इसलिए जो सूक्ष्म चैतन्य शरीर को चला रहा था, वह उसे छोड़ने लगा था, और छोड़ते-छोड़ते एक दिन बिल्कुल ही छोड़ गया।

श्री भाई जी चले गये, और हम श्रीहत, निरुपाय हैं। श्री कृष्ण के चले जाने के बाद जो स्थिति पाण्डवों की हुई थी, वही हमारी है। हम रोते हैं और छटपटाते हैं, छटपटाते हैं और रोते हैं। अब भी उनको पकड़ने की चेष्टा करते हैं और संसार-नद के प्रखर-प्रवाह में बह-बह जाते हैं। शत-शत स्मृतियां चतुर्दिक से आती हैं—स्मृतियां जिन पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं; स्मृतियां, जो हमारे अन्तर को कुरेद-कुरेद देती हैं, और फिर हमें असहाय छोड़कर चली जाती हैं। उनकी उदारता, उनकी दयालुता, उनकी करुणा, उनका वात्सल्य, उनका स्नेह, उनका तप, उनकी ईश्वरमयता, उनका काव्य, उनका संपादन, उनका साहित्य, उनकी सर्वग्रासा भक्ति, उनका शास्त्रानुमोदित जीवन और आचरण, अपने को निःस्व करके, पीछे रखकर सब कुछ करते रहने की उनकी साधुता—क्या-क्या गिनायें, भाई जी अनेक उदात्त गुणों और कलाओं के आकर थे। उन सबको हमारे आदर्श और उदाहरण के लिए छोड़कर, २२ मार्च, १९७१ को प्रातःकाल आठ बजे, अपने आराध्य में लीन हो गए।

शिवपूजन सहाय उर्फ शिव जी

प्रथम मिलन

मोहक मुस्कान, भरे हुए गाल, अधर पर पान की लाली, आंखों में एक हल्का नशा, हंसी—जैसे बादलों में चंचला का खेल, चश्मे के पीछे से झांकती-सी दृष्टि, जो अपनी लुकाछिपी में भी अन्तर के रस को उंडेल-उंडेल जाती हो और ऐसी प्रेमभीनी मधुर वाणी मानो अपने प्राणों का समर्पण लिये आनेवाली किसी लज्जा-भारावनता नवोढ़ा के ओठों से टप-टप चू रहे पारिजात पुष्प; एक अजीब मस्ती का आलम बिखेरते हुए। इसी रूप में पहली बार १६२४ ई० में शिवपूजन[1] या अपने शिव जी को देखा था। ललककर हम दोनों ने एक-दूसरे को यों अंक में भर लिया, जैसे चिरकाल के बिछुड़े मिल गये हों और कहते हों कि अब अलग न होंगे।

पत्र-व्यवहार-द्वारा तो उनके साथ परिचय १६१६ ई० से था, जब वह आरा के टाउन स्कूल में एक शिक्षक थे। वह परिचय अनेक सूत्रों से दृढ़ होता गया—चाहकर उन्होंने मेरी एक पुस्तक की भूमिका लिखी, चार-पांच को रुचि लेकर प्रकाशित करवाया और तब से सानिध्य का जो जीवन चला, तो जब वह चले गये हैं, तब भी बना ही हुआ है और जीवन-भर बना रहेगा।

श्मशान के बीच शिव की साधना

शिवपूजन का स्मरण आते ही आंखों के आगे एक ऐसी दुनिया आकर खड़ी हो जाती है, जो चली गयी है, शायद सदा के लिए चली गयी है पर मेरे जैसे साहित्य के कुछ ध्वंसावशेषों के लिए जो मिटकर भी मिट नहीं पाती है। वह भी कैसा ज़माना था, जब हिन्दी लाभ की नहीं, पूजा की, साधना की चीज़ थी; जब लोग एक-एक शब्द की शुद्धता का विचार करते थे; जब साहित्य की प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों को लेकर आपस में चलती थी, परन्तु लड़ाई अन्तर के रस-निर्झर के कपाट बन्द नहीं कर पाती थी! प्रतिस्पर्द्धा व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक थी, साहित्यिक थी, इसलिए यों कहें कि वह आज के अर्थ में तो प्रतिस्पर्द्धा ही नहीं थी। जिससे लड़ते थे, उसीके लिए फूट-फूटकर रोते थे, उसीकी याद में सिर धुनते थे।

उसी युग के एक अवशेष थे शिव जी, जो एक बड़ी लम्बी कालावधि की

१. जन्म : १८९३ ई०; मृत्यु : २१ जनवरी, १९६३ ई०

साहित्य-साधना में तिल-तिल करके अपने को देते गये—यहां तक कि जीर्ण रोगों ने उन्हें असमर्थ, लगभग पंगु, कर दिया। उन्हें राजयक्ष्मा हो गया, फिर मधुमेह हुआ, रक्तचाप गिर गया, गुर्दे जवाब देने लगे, परन्तु प्रकृति एवं मृत्यु के इन इंगितों की ओर एक 'उहं' करके, उनकी उपेक्षा करके भी चलती रही वह साधना। प्राणों में जो स्नेह-दीप छिपा था, वह जलता ही रहा, मृत्यु की निकट आती हुई परछाइयों के बीच भी जलता रहा, जीवन-संघर्ष की आंधियों के बीच जलता रहा, युग की उपेक्षाओं और चुनौतियों के बीच जलता रहा—जैसे श्मशान के बीच चलती शिव की वह साधना हो, जिसके वह इस जगत् में एक प्रतीक-से थे।

मृत्यु के प्रायः दो वर्ष पहले, एक लम्बी अवधि के बाद उन्हें देखा तो मेरा कलेजा बैठ गया। वह मोहक मुस्कान फीकी पड़ गयी थी; उभरे हुए गाल बैठ गए थे। आंखों में अब नशा नहीं, एक फीकापन, एक उदासी थी—जैसे जो, सपने प्रथम मिलन में संजोये वह आये थे, वे मिट गये हों। परन्तु बोल वही थे; आर्द्रता वही थी। मौत की चुनौतियों के बीच भी वही लजाई, सहमी-सहमी नज़र और अमृत-बिन्दु से झरते अमोल बोल। लगा, यह अमृत कभी समाप्त न होगा।

'शिव जी'—मानवता के प्रतीक

शिवपूजन, अपनी अन्तरंग मण्डली में, जो काफी बड़ी थी, शिवजी के नाम से पुकारे जाते थे। यह उनका नाम था; परन्तु इस शब्द के पीछे जो अर्थ छिपा है, वही उनका जीवन था—'गिरा-अर्थ, जल-बीचि सम, करियत भिन्न न भिन्न।' वह लगभग अजातशत्रु थे और इस दुनिया में यह एक बहुत बड़ी सफलता है—प्रायः असंभावित।

शील की तो वह खान थे; बुरे-से-बुरे के लिए भी कभी उन्होंने अपने हृदय को मलिन नहीं होने दिया। लोगों ने उनके बारे में गलतबयानियां कीं, उन्हें धोखे दिये परन्तु शिव की भांति वह जीवन-भर विषपान करते और उस विष को अपने कंठ के माधुर्य में डुबाकर अमृत बनाते रहे, यहां तक कि वह चले गए—चले गए।

ऐसी सरलता, ऐसी हार्दिकता, ऐसा शील-सौजन्य, ऐसी शिष्टता कि वह मोह-मोह लेते थे। जिससे मिले, उसे अपना बना लिया। वह आचार्य थे परन्तु आचार्यों की फसल तो आज हिन्दी में बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। वह निबन्धकार थे, पर यह जाति भी आज कुछ बहुत अल्पसंख्यक नहीं रह गई है। वह समालोचक थे, पर इनकी टोलियों के रणनाद से आज साहित्य का मानस-क्षितिज विकम्पित है। हां, वह यह सब थे, पर वह वह भी थे, जिसकी संख्या आज की काष्ठहृदया सभ्यता में बड़ी तेज़ी से घटती जा रही है—यानी आदमी! मनुष्य! उनकी मानवता अद्भुत थी पर वही एक थी उनकी साधना, वही एक थी उनकी उपलब्धि,—उनका जीवन मानो साहित्य के फरिश्तों से कहता हो :

मैंने माना हो फरिश्ता शेख जी,
आदमी होना बहुत दुश्वार है !

आचार्य

मैं ऊपर कह चुका हूं कि हिन्दी में आचार्यों की खेती आज ज़ोरों पर है। बहुतों ने तो यह सोचकर कि आचार्य बनाये नहीं जाते, स्वयं बन जाते हैं, अपने नाम के साथ, देखने में छोटा परन्तु अर्थ में भारी-भरकम, इस शब्द को जोड़ना शुरू कर दिया है। वे, जिन्हें भाषा का ज्ञान नहीं; व्याकरण से परिचय नहीं; शब्दों की प्रकृति और मुहावरों को जो जानते नहीं, आज आचार्य हैं। परन्तु शिवपूजन इनमें नहीं थे; इससे भिन्न कोटि के थे। उन्होंने भाषा का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। गुरुजनों एवं पूर्वाचार्यों के सान्निध्य से जो कुछ प्राप्त किया, उसका उपयोग भी अपने भोग, अपने शृंगार में उतना नहीं किया, जितना दूसरों को सजाने-सवांरने में किया। न जाने कितने लेखकों की रचनाएं उनके श्रम, सूझ और कलम की नोक से परिष्कृत होकर वह हो गयीं, जो आज वे हैं। उर्दू ग़ज़ल के उस्तादों की भांति कुछ परिवर्तन करके वह रचना में जान डाल देते थे। कभी-कभी तो पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भांति, रचनाओं को एकदम बदल देते थे—फिर से लिखते थे। शुरू-शुरू में प्रेमचन्द की कई रचनाएं उनकी ही कलम से कट-छंटकर परिष्कृत हुई थीं। 'रंगभूमि' की प्रेस-कापी यदि दुलारेलाल जी भार्गव के संग्रह में सुरक्षित हो तो वही अपनी कथा कह देगी। 'गोदान' का सम्पादन भी उन्होंने किया था। बेनीपुरी, निराला आदि की अनेक रचनाएं उनके हाथ से परिष्कृत हुई थीं। और यह सब उन्होंने पर्दे के पीछे रहकर किया, कहीं उनका नाम नहीं, श्रेय नहीं। कोई श्रेय देता भी तो वह संकुचित हो उठते थे। आत्म-विज्ञापन के मूर्तिमान निषेध-से, उनको युग जानकर भी जान न पाया। वह उनमें थे, जो अपने को दूसरों के उत्थान की सीढ़ी बना लेते हैं। लोए उनके ऊपर पांव रखकर चले जाते थे। लोग चलें, बढ़ें, यही बस उनकी खुशी थी। पाहुन के पांव मार्ग के कुश-कण्टकों से न छिदें, इसलिए अपने कलेजे के फूल बिछा उन्हें ढक दिया करते थे। यह उनका स्वभाव बन गया था।

रचनाकार

उनकी अधिकांश रचनाएं ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित हो गयी हैं। इन रचनाओं में शिव जी की 'खास कलम' के दर्शन सर्वत्र होते हैं। उनकी कहानियों में मनोरंजन के साथ उच्च प्रेरणा का मिश्रण है। उनके लेखों में प्रसाद गुण-पूर्ण शैली के साथ अगणित सूचनाओं एवं निर्देशों का सञ्चय है; उनके उपन्यास में भारतीय ग्रामीण जीवन का मर्मचित्र है। १६२० के बाद, विशेषतः १६४७ के बाद, ग्रामीण जीवन पर कई उपन्यास हमारे सामने आये; आंचलिक उपन्यासों की एक परम्परा-सी चल पड़ी है। इनमें कई अच्छे भी हैं, परन्तु जो

सहृदय स्पर्श, जो मार्मिकता उनके उपन्यास 'देहाती दुनिया' में है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। इसमें देहात का देहात है; उस पर कहीं भी शहर का आरोप नहीं। जब अन्य उपन्यासों में देहात की दुनिया की ठठरी के पीछे शहर झांकता दिखाई पड़ता है, 'देहाती दुनिया' बस देहाती दुनिया है। पता नहीं, क्यों शिव जी ने इस क्षेत्र को छोड़ दिया। आज भी वह इस क्षेत्र में अपने ढंग के एक ही हैं।

उनके रचना-कलेवर की सबसे बड़ी उपयोगिता तो यह है कि हम एक लेखक और साहित्य-निर्माता के समस्त जीवन की मानस-रेखा उसमें देख सकते हैं और न केवल एक व्यक्ति, बल्कि उस व्यक्ति के माध्यम से एक युग को पा और परख सकते हैं। ५० वर्ष का एक लम्बा युग इन रचनाओं में फैला दिखाई देता है—मानो वे एक सेतु हों और प्राचीन एवं नवीन के बीच कड़ी बनकर रह गये हों। इसके साथ ही भाषा के परिमार्जन एवं साहित्य के निर्माण की जो साधना बीते युग के प्राणों को आलोकित करती थी, उसके भी दर्शन हो जाते हैं।

फिर हम इन रचनाओं में एक कुशल कृती की वाणी अत्यन्त परिमार्जित रूप में पाते हैं। यहां उसकी शैली, उसके वाक्य-विन्यास, उसके विचार, उसकी प्रेरणा और इन सबके मूल में भाव की पूजा का जो सहज उच्छ्वास है, वह सब हमें मिलता है। आज की शैलियां, आज के जीवन की भांति, कितनी गूढ़ हो गयी हैं; कहानी तक दुरभिगम्य होती जाती है; निबन्ध मनोवैज्ञानिक जटि-लताओं के कारण अपने को काट-काट देते हैं, तब शिव जी की सरल रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है मानो हमारी विद्युद्ज्योतित अट्टालिका के बन्द कपाट सहसा खुल गये हों और किसी दूरस्थ उपवन के मृदुगंध-समीर का एक निर्बन्ध झोंका उसमें आ गया हो—वही जो भूलकर भी भूलता नहीं, जो दूर का होकर भी मानो हमारा है। कैसा अन्तर है बिजली के पंखे की इस हवा से उसमें। बस, इन रचनाओं में आधुनिक प्रसाधन-शैली नहीं है परन्तु प्राचीन षोडश श्रृंगार-कला ज्यों-की-त्यों है!

आज जब विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अनेक छात्र शोध कर रहे हैं, पुराने और नवीन युगों की श्रृंखला मिलाने के लिए शिव जी की रचनाओं को पढ़ना बहुत आवश्यक हो गया है। अपने सहज शील-वश शिव जी ने बार-बार अपनी रचनाओं की तुच्छता के लिए क्षमा-याचना की है, जिसका यद्यपि कोई कारण न था किन्तु कदाचित् 'अहं' की आंधी में तिनके-से उड़नेवाले आज के लेखकों के लिए वह भी कुछ सीख का काम कर जाय।

पर इस बीच आइए, हम उनके जीवन की भी एक झांकी ले लें।

जीवन-झांकी

बक्सर से थोड़ी दूर, आरा (शाहाबाद) ज़िले के उनवंस गांव में १८९३ ई० में एक साधारण कायस्थ-परिवार में उनका जन्म हुआ था। पिता वागीश्वर प्रसाद सरलता और सादगी की मूर्ति थे। आरम्भिक शिक्षा गांव में हुई; फिर

आरा आकर कायस्थ जुबली एकेडमी में पढ़ते रहे। स्कूली परीक्षा के बाद ही, घर की स्थिति के कारण, जीविकोपार्जन का दायित्व ऊपर आ गया। बनारस आकर दीवानी अदालत में नक़ल-नवीस का काम शुरू किया। यह १९१३ का ज़माना था। कुछ ही समय बाद १९१४ का युरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। अदालती काम रुचिकर न होने के कारण फिर आरा लौट गये। १९१५ ई० में कायस्थ जुबली एकेडमी में ही शिक्षक नियुक्त हो गये। १९१७ ई० में ज्यार्ज टाउन स्कूल, आरा में शिक्षक हुए।

जब १९२० ई० में गांधी जी ने असहयोग का शंखनाद किया, तो अपनी कठिनाइयों की पर्वाह न करके शिव जी ने स्कूल से त्यागपत्र दे दिया। और राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित होने पर उसमें चले गये। आगे तो १९३९ में राजेन्द्र कालेज (छपरा) में हिन्दी के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

पत्रकार

१९२१ में आरा से उनके सम्पादन में 'मारवाड़ी सुधार' पत्र निकला। जातिगत मासिक पत्रों के इतिहास में इसका विशेष स्थान है। था तो वह एक मारवाड़ी पत्र, किन्तु उसे वृहत्तर सामाजिक प्रवृत्तियों से अलंकृत करने का श्रेय शिवजी को ही है। १९२३ ई० में 'मतवाला' (कलकत्ता) में चले गये। उनके श्रम, लगन, सूझ-बूझ तथा 'चलती चक्की', 'चण्डूखाने की गप्प' इत्यादि स्तम्भों से 'मतवाला' चमक उठा। 'मतवाला' के बाद 'गोलमाल,' 'आदर्श', 'उपन्यास-तरंग', 'माधुरी', 'जागरण', 'बालक', 'गंगा', 'हिमालय', 'साहित्य' इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त 'द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ,' 'राजेन्द्र-अभिनन्दन ग्रन्थ' तथा और भी कितने ही ग्रन्थों के सम्पादन का श्रेय उन्हें है।

साहित्य-सेवा

साहित्य की अभिरुचि उनमें प्रारम्भ से थी, परन्तु इस विषय में विशेष उत्साह उन्होंने 'मनोरंजन'-सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा से प्राप्त किया, जिन्हें अन्त तक वह गुरु मानते रहे। १९१४ ई० से ही वह कुछ लिखने लगे थे। १९१४ से १९२६ तक की बहुत-सी रचनाएं, जिनमें 'नवरत्न-विद्यालय' नामक एक उपन्यास भी था, लखनऊ के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में नष्ट हो गयीं। आरम्भ से ही उनकी रचनाएं 'शिक्षा', 'लक्ष्मी', 'मनोरंजन', 'पाटलिपुत्र' इत्यादि उस समय के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। इनके सम्पादक भाषा के विद्वान थे : 'शिक्षा' के तीर्थत्रय पं० सकलनारायण शर्मा, 'लक्ष्मी' के रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य के उद्‌भट विद्वान लाला भगवानदीन, 'मनोरंजन' के पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा और 'पाटलिपुत्र' के बा० राजेन्द्रप्रसाद। इस प्रकार प्रारम्भ से ही वह विद्वज्जनों एवं मानवता के सच्चे सेवकों के सम्पर्क में आ गये और उनकी शैली

एवं जीवन में जो निखार दिखाई पड़ता है, उसपर इन महानुभावों के सत्संग की गहरी छाप है।

शिव जी का साहित्य-कलेवर बड़ा विस्तृत है। उन्होंने उपन्यास ('देहाती-दुनिया' और 'नवरत्न-विद्यालय') लिखे; कहानियां ('विभूति' संकलन) लिखीं; बच्चों-योग्य जीवनियां तो सैकड़ों होंगी। 'देहाती दुनिया' में ग्रामीण जीवन की जो झांकी है, वह किसी-न-किसी रूप में 'ग्राम-सुधार', 'अन्नपूर्णा के मन्दिर में' आदि रचनाओं में आगे भी दिखाई पड़ती है। किशोरों के लिए लिखी 'सेवाधर्म', 'मां के सपूत' आदि पुस्तकें यौवन के प्रति उनके गहरे ममत्त्व की द्योतक हैं। 'महिला-महत्त्व' महिलाओं के प्रति उनकी उत्कट श्रद्धा का प्रतीक है। यहां तक कि देहावसान के कुछ ही समय पूर्व (३ दिसम्बर १९६२ को) 'बिहार की महिलाएं' पुस्तक संकलित-सम्पादित कर उन्होंने राजेन्द्र बाबू को भेंट की।

उनका सबसे महत् ग्रन्थ है 'हिन्दी-सहित्य और बिहार'। वर्षों के अनवरत परिश्रम से वह तैयार हो सका। यह काम शिव जी ही कर सकते थे। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में है। प्रथम खण्ड में सातवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के बिहार के कवियों-लेखकों का परिचय और विवेचन है। दूसरे खण्ड में उन्नीसवीं शती के बिहारी साहित्यकारों का परिचय है। तीसरा खण्ड वह तैयार कर ही रहे थे कि चले गये। इस ग्रन्थ से हमारे साहित्य के इतिहास के अन्धकाराच्छन्न पक्षों पर अद्भुत प्रकाश पड़ा है और मिश्रबन्धुओं के 'मिश्रबन्धु-विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' में बिहार के साहित्य-दान के प्रति अज्ञान एवं उपेक्षा की जो वृत्ति दिखाई पड़ी थी, उसका शिव जी ने सप्रमाण उत्तर दिया है और हिन्दी में उपलब्ध साहित्य के इतिहासों की अपूर्णता एवं उनके संशोधन की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया है।

सम्मान

उनका वास्तविक सम्मान तो गुरुजनों के स्नेहाशीर्वाद एवं मित्रों की मंगल-कामना ही है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से देखें, तो उनकी अनवरत सेवा का सम्मान भी हुआ। लोगों ने उन्हें पहचाना। १९४१ ई० में बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पटना अधिवेशन के वह अध्यक्ष हुए। १९४४ ई० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष चुने गये। १९५० ई० में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक नियुक्त हुए। १९६० ई० में 'पद्मभूषण' की उपाधि मिली। भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर' बनाया।

अन्त

१४ जनवरी, १९६३ ई० तक शिव जी बराबर कार्य करते रहे। उस दिन वह गंगा-स्नान को गये। बड़ी ठण्डक थी; कुछ ठण्ड लग गयी। १५ को भी वह

कार्यालय (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्) चले गये। वहां से देर को लौटे और बादल-बूंदी में ठण्डक खा गये। दूसरे दिन ज्वर हो गया। बड़े पुत्र अध्यापक आनन्दमूर्ति पटना हास्पिटल ले गये। फिर पड़े तो उठ न सके; बेहोश हुए तो अन्त तक बेहोश ही रहे और बड़े-से-बड़े डाक्टरों की सयत्न चिकित्सा के बीच भी २१ जनवरी को प्रात: ३ बजकर ५ मिनट पर अस्पताल में ही देहान्त हो गया। छोटे पुत्र अध्यापक मंगलमूर्ति द्वारा प्रयाग की त्रिवेणी में २५ जनवरी को उनकी अस्थियां प्रवाहित की गयीं। अवशेष पुन: पंचतत्त्व में मिल गये।

विश्लेषण

इतनी बातें कर चुकने के बाद हम सहज ही देख सकते हैं कि वह एक ओर शिक्षक और दूसरी ओर साहित्यकार थे। एक ओर आजीवन मनुष्य गढ़े, दूसरी ओर साहित्य का निर्माण किया। दोनों वस्तुत: एक ही हैं और दोनों काम किसी-न-किसी रूप में मृत्यु तक चलते रहे। स्वभाव ही बन गया था कि जिस काम को करते थे, मन-प्राण लगाकर करते थे। ज़ाब्ते की ज़्यादा शिक्षा न पाकर और प्रशिक्षण-विधियों का शास्त्रसम्मत ज्ञान न रखते हुए भी शिक्षक के रूप में उन्होंने अद्‌भुत सफलता पाई थी। जहां रहे, छात्रों में प्रिय रहे। इसका कारण यही था कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक थे और बहुत ज़्यादा मेहनत करते थे—पढ़ाते थे जीविका के लिए उतना नहीं, जितना स्वधर्म के लिए। उनके टाउन स्कूल, आरा के एक शिष्य डा० बलभद्रप्रसाद, जो अनेक विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलर (उपकुलपति) रह चुके हैं, मुझे बता रहे थे कि वह अपने सब साथी अध्यापकों से अधिक श्रम करते थे; खूब पढ़ाते, खूब काम देते-लेते थे। यही बात राजेन्द्र कालेज के उनके कई छात्रों ने बताई है। मतलब यह कि वह सिर्फ पढ़ाते ही न थे, आदमी भी गढ़ते थे। और यह आदमियों का गढ़ना ही आज का शिक्षक भूल गया है।

उनके साहित्य में भी इन्सान को इन्सान बनाने की साधना ही चलती रही है: कभी मुखर, कभी मौन, परन्तु एकनिष्ठा के साथ। उन्होंने साहित्य के माध्यम से मानव में सजीव चेतना के निर्माण का कार्य किया। जीवन-भर अपने प्रति ईमानदार रहे क्योंकि अपने प्रति ईमानदार रहे बिना दूसरों के प्रति ईमानदार नहीं रहा जा सकता। लड़के थे, मित्र-मण्डली थी—जान देनेवाले लड़के एवं प्राण की तरह चाहने वाले मित्र, परन्तु अपना बोझ उन्होंने कभी किसी पर न डाला। जब तक चेतना लुप्त नहीं हो गयी, कलम नहीं छोड़ी, काम नहीं छोड़ा। मेरे उलाहने के उत्तर में लिखे गये उनके अत्यन्त करुण शब्द याद आते हैं: "बैल जब तक भूसा खाएगा, हल में जोता जाएगा।"

इतना श्रम, इतना संघर्ष करते हुए भी उन्होंने कभी आत्मनिष्ठा नहीं खोई। उनकी सबसे बड़ी सफलता यही है। जीवन के झंझावात में जब भी उनका कोई

मित्र निराश हुआ है, उनके प्राणों के अतल से निकले शब्दों ने उसे बिखरने से बचा लिया है। एक बार की बात है कि जीवन की अंधेरी घड़ियों के बीच मैं बहुत निराश था; मेरी आस्थाएं लुप्त हो रही थीं। स्थिति ऐसी थी कि ज्वर में भी एक पैसे की दवा न कर पाता था और उस हालत में भी रात-रात भर बैठकर काम करना पड़ता था। घर में मेरी मां और छोटे भाई-बहन थे। कभी भात में नमक मिलाकर खा लेते, कभी पानी पीकर रह जाते। मैं नास्तिक हो चला था; आस्था की प्रतिक्रिया शुरू हो चुकी थी। ऐसे समय शिव जी ने मुझे लिखा—"राणा प्रताप के मार्ग का अनुगमन करके मानसिंह की जिन्दगी के मजे लूटना चाहते हो? यह कभी हुआ है, भैया?" एक कोड़ा कलेजे पर लगा; मोह भंग हो गया; नशा उखड़ा और आंखें खुल गयीं। तब से उनका यह वाक्य मेरा जीवन-दीप बन गया।

शिव जी की ईमानदारी अद्‌भुत थी। गरीबी में भी उन्होंने सरकार से ५०० रुपये मासिक की पेंशन, बिना कोई काम किए लेना अस्वीकार कर दिया था। उनके जीवन के साथ हिन्दी का ४०-४५ वर्षों का इतिहास इस प्रकार जुड़ा रहा है कि उसके किसी भी संस्करण में उनका नाम आये बिना नहीं रह सकता। एक बार कुछ मित्रों ने उनसे अपनी आत्म-कथा लिखने का अनुरोध किया था। तब उन्होंने कहा था—

"यदि मैं अपनी आत्म-कथा लिखूंगा तो हिन्दी के बहुतेरे साहित्यिक आत्म-हत्या कर लेंगे।" इस उत्तर के पीछे कितने ही रहस्य छिपे हुए हैं। न जाने कितने लेखकों की पाण्डुलिपियों को उन्होंने फिर से लिखा है, गुमनाम रहकर। लोगों ने उनकी प्रतिभा का शोषण किया परन्तु उनमें विद्रोह की भावना थी ही नहीं। विनम्र, परिश्रमी, ईमानदारी से काम करके लद्दू बैल की भांति पेट भरने वाले शिव जी अपने में स्वयं एक करुण कहानी थे।

इस तरह की कितनी ही बातें याद आती हैं। आज जब वह चले गये हैं, लगता है मानो साहित्य का तपोवन सूना हो गया है; मन्दिर से देवता अन्तर्धान हो गए हैं। झर-झर आंसू गिरते हैं, और कलेजा मसोस-मसोसकर रह जाता है सिनेमा के प्लेबैक गायक के समान दूसरों के कण्ठ में अपनी मधुर वाणी उंड़ेलने वाले, दूसरों का भार उठाकर भी पर्दे के पीछे रह जाने वाले शिव जी आज कहां हैं? अपने प्राणों का तिल-तिल स्नेह देकर साधना की दीप-शिखा को प्रज्वलित रखने वाले शिव जी आज कहां हैं?

दीपक बुझ गया है और स्नेह की सिहरती ज्योति अनन्त दिगन्तों में फैलकर आंखों से ओझल हो गयी है। मृत्यु की लोरियों ने जीवन को अनन्त निद्रा में समेट लिया है। साकार निराकार हो गया है पर हम, जो उनकी प्राणलेवा मुस्कान के लिए तरसते रहे हैं, अब उसे कहां पायेंगे? हम जो जीवन की मरुभूमि में चलते हुए आशा के हरित भूमिखण्ड से तृप्ति का बोध पा लेते थे, अब क्या करेंगे?

कैसे अपने मन को समझायेंगे ?

वह तो चले गए—मार्ग के कांटों को अपने जीवन-दुकूल से हटाते हुए। उनके चिता-भस्म से रह-रहकर बस एक आवाज़ आती है :

दुआएं दें मेरे बाद आनेवाले मेरी वहशत को,
बहुत कांटे निकल आये, मेरे हमराह मंज़िल से।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़ : 'बेढब' बनारसी

नाम था—बा० कृष्णदेव प्रसाद गौड़[1]। यों सारे बनारस में वह 'मास्टर साहब' के नाम से जाने जाते थे। एक बार उन्होंने खुद ही अपना परिचय देते हुए कहा था :

काशी अविनाशी का अदना निवासी एक,
कृष्णदेव नाम मगर रंग नहीं काला है।
सेवक सरस्वती का, दास दयानन्द का हूँ,
टीचरी में निकला दिमाग़ का दिवाला है।
काव्य लिखता हूँ नहीं हँसने की चीज़ निरा,
रचना में व्यंग औ विनोद का मसाला है।
पावन प्रसाद 'दीन' जी का मिला 'बेढब' है,
सूर हूँ न तुलसी, पन्थ मेरा निराला है।

तो 'उग्र' की भांति यह भी 'दीन' (आचार्य लाला भगवानदीन) के 'प्रसाद' थे। हिन्दी साहित्य विद्यालय की उपज। गोरे-चिट्टे, क़द-कामत के सुघड़, शौकीन तबीयत, आंखों पर सोनहले या बढ़िया फ्रेम का चश्मा, पुस्तक और फाउण्टेनपेन के ऐसे प्रेमी कि सामने देख बिना हाथ लगाए न बने। इस मामले में वह दूसरों पर भी हाथ साफ कर देते थे। खूब पढ़नेवाले, हाजिर जवाब, बात से बात पैदा करने में एक नम्बर; 'रिपार्टी' के मास्टर; हंसने-हंसाने की कला में माहिर। इसी रूप में उनसे पहले-पहले १९२२ ई० के लगभग भेंट हुई थी—छोटे भाई श्यामलाल के माध्यम से, जो उनका शिष्य था।

परिचय हुआ, घनिष्ठता बढ़ी और हम लोग एक-दूसरे के नज़दीक आते गये। एक ही गुरु, लाला भगवानदीन जी, के शिष्य होने के नाते भी। उस समय भी गौड़ जी का अध्ययन और ज्ञान गहरा था; तब वह डिकेंस पर फिदा और अंग्रेज़ी कवियों के शैदा थे। आधुनिक हिन्दी को दो कौड़ी की समझते थे। पढ़ते खूब थे पर लिखते नहीं थे। मैं उन दिनों ब्रजभाषा तथा उर्दू काव्य के प्रति आसक्त था। उन्हें अकबर के चुटीले शेर अक्सर सुनाया करता था। मेरे बहुत ज़ोर देने पर कभी-कभी कविता लिखने लगे। तब 'बेढब' नहीं, 'सरस' थे। कभी-कभी निबन्ध भी

१. जन्म : कार्तिक शुक्ल, एकादशी, संवत् १९५२ वि० (१८९५ ई०); मृत्यु : ९ मार्च, १९६८ ई० (दिन १०-३० बजे)

लिखते थे।

मैं अक्सर शाम को उनके यहां, थोड़ी देर के लिए, चला जाता था। बड़ी पियरी के जिस मकान में रहते थे, उसका एक छोर सड़क की ओर था। वहां बिजली का एक खंबा था। वह उधर की छतिया पर चारपाई बिछा लेते, वहीं लिखते-पढ़ते थे। कहते थे—यहां म्युनिसपैलटी की मुफ्त की रोशनी से लिखने-पढ़ने का काम मज़े में चल जाता है। हम लोगों में ख़ूब बातें होतीं। मैं शुरू से ही 'प्रसाद' का भक्त था। बीच-बीच में बेढब को उनकी रचनाएं सुनाता रहता था। धीरे-धीरे वह 'प्रसाद' की प्रतिभा के क़ायल हो गए और उनके यहां आने लगे। इन्हीं दिनों 'उग्र' से भी परिचय हुआ। प्रसाद, उग्र इत्यादि के सम्पर्क से उनमें भी लिखने की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा। इनमें 'प्रसाद' उदधि की भांति शान्त, गम्भीर और मर्यादा के रक्षक थे, जब 'उग्र' आग उगलने वाले, उफनते हुए और अत्यन्त अनौपचारिक ढंग के इंसान थे। 'बेढब' में दोनों के गुण दिखाई पड़ते थे। वह एक ओर अध्ययन-गम्भीर परन्तु दूसरी ओर हलकी-फुलकी हंसी और हाज़िर जवाबी का परिचय देनेवाले मित्र थे।

उन दिनों हिन्दी में दो प्रकार की शैलियों का प्रवर्तन था। एक संस्कृत तत्सम शब्दावली-प्रधान; दूसरी उर्दू मुहावरों और फिकरों से संपन्न। बहुत-से लोग तो मानते थे कि अच्छी उर्दू जाने बिना अच्छी हिन्दी लिखी ही नहीं जा सकती। व्यंग और हास्य-लेखन के लिए तो वह अनिवार्य है। धीरे-धीरे गौड़ जी इसी मत के होते गये और 'अकबर' इलाहाबादी की शैली से बड़े प्रभावित हुए।

शुरू-शुरू में वह बहुत छिपाकर और संकोच के साथ दो-चार शेर उसी तर्ज़ पर कहते, यानी लिखते और हम लोगों को सुनाते। मित्र-मण्डली की प्रशंसा ने धीरे-धीरे उनके इरादे को मज़बूत किया। यहां तक कि १९२४ ई० में 'भूत' निकलते-निकलते वह गद्य-पद्य दोनों में अच्छा हास्य-व्यंग लिखने लगे। उनकी कविताएं, नई रोशनी, नई चाल-ढाल पर व्यंग के छीटों के रूप में सामने आईं। उनकी शुरू की ऐसी रचनाओं में वही रंग है जो अकबर इलाहाबादी में था। उन दिनों उनपर अनुकृति का नशा था और वह अकबर के रंग में सराबोर थे। एक दिन मैं उनके पास बैठा था, तब तकिये के नीचे से एक पुर्ज़ा निकाला और यह फबती सुनाई :

श्रीमती जी गल्प लिखने लग गयीं।
खोज में कैरेक्टरों के पग गयीं।
कल जो लौटे चौक से श्रीमान जी,
घर में देखा, श्रीमती जी भग गयीं।

जैसा मैं पहले कह चुका हूं प्रसाद, निराला और उग्र आदि के सम्पर्क ने उनको विश्वास दिलाया कि हिन्दी भी साहित्य का एक सशक्त माध्यम बनाई जा सकती है। प्रसाद जी के यहां अक्सर हम सबकी बैठकी होती थी। फिर पुस्तकीय अध्ययन में रुचि की गहनता के कारण नागरी प्रचारिणी सभा और उससे भी ज़्यादा

कार्माइकल लाइब्रेरी में प्रायः प्रतिदिन भेंट हो जाती। अक्सर हम साथ-साथ कार्माइकल जाते। वहां भी मण्डली जमती। क़दीर साहब, तारापद भट्टाचार्य, मुंशी माधवप्रसाद, देवीप्रसाद इत्यादि सदस्य वहां जुटते और अनेक विषयों पर बातें होतीं। वहां के लाइब्रेरियन स्व० संकटादत्त दुबे भी अपने ढंग के एक ही थे। उस समय के बनारस के रंगीन व्यक्तित्वों में उनकी गणना की जा सकती है। वह हम लोगों से बहुत घुले-मिले थे। घर में प्रेत-बाधा थी। बन्द सन्दूक में ताला खोलने पर टट्टी निकलती, कपड़े जल उठते। इन परेशानियों के कारण जब तक मैं वाराणसी में रहा, वह हमारे घर बराबर बिना सूचना के आ धमकते, खाते-खिलाते, हम लोग साथ-साथ घूमते। कट्टर सरयूपारीण ब्राह्मण, पर मेरे घर कोई परहेज न था। मेरी शादी में जो मित्र-मण्डली जबलपुर गयी थी, उसमें वह भी थे। जब लड़की वालों ने उनसे उनके अलग भोजन की तैयारी के विषय में पूछा तो तमककर बोले—"यहां मैं ब्राह्मण नहीं, सुमन के मित्र-रूप में आया हूं। आप लोग इस तरह पूछकर मेरा अपमान करते हैं।"

●

हां, तो मैं गौड़ जी की बात से हट गया। जब उन्हें मश्क हो गया तो खुलकर सामने आये और कवि-गोष्ठियों और सम्मेलनों में पढ़ने लगे। धीरे-धीरे अकबर के रंग पर उनका निजी रंग चढ़ने लगा, एक निराला बनारसी रंग और देखते-देखते वह 'बेढब' बनारसी हो गये। उर्दू के कवि प्रायः अपने नाम के आगे अपने वतन या शहर का नाम जोड़कर लिखते हैं : 'दाग़' देहलवी, जिगर मुरादाबादी, असग़र गोंडवी। संस्कृत और हिन्दी स्थानीय आबद्धता की इस परम्परा से प्रायः मुक्त रही है, परन्तु गौड़ जी ने उर्दू का अनुकरण किया, और उसी तर्ज़ पर अपने को बेढब बनारसी लिखने लगे। वैसे वंश-परम्परा से वह आजमगढ़ (निज़ामाबाद) के थे। हां, बनारस के रंग में सराबोर होकर प्रत्येक इंच बनारसी हो गए थे।

बनारस का अपना एक व्यक्तित्व है : अल्पसन्तोषी वृत्ति, निश्चिन्तता और एक अजीब-सी, अव्याख्येय-मस्ती उसकी विशेषताएं हैं। बेढब में ये तीनों बातें थीं। उन्होंने पैसा जुटाने पर कभी विश्वास नहीं किया; जीवन के मार्ग में जो कुछ भी आया, उसे सहज भाव और निश्चिन्त वृत्ति से ग्रहण करते गए। मस्ती ऐसी कि प्रेम से बरतो तो सिर-आंखों पर, नहीं तो सब कुछ ठेंगे पर।

ख़ाक भी जिस ज़मीं की पारस है।
वह हमारा शहर बनारस है।।

(२)

'उग्र' की तरह उनमें सौन्दर्य-बोध था किन्तु उसके आरोपण में उग्र की उच्छृंखलता और अहम्मन्यता नहीं थी। उग्र अपनी बात या कृत्य के दूसरों पर पड़ने वाले प्रभाव की ज़रा भी पर्वा न करते थे; बेढब समाज और उसकी शिष्ट परम्परा को देखकर चलते थे। बेढब के साथ कोई न कोई सुन्दर बालक सदा रहा,

इसके लिए लोगों में कभी-कभी छींटाकशी भी होती थी परन्तु उनके संस्कृत व्यवहार और आचरण के कारण वह कभी सिर न उठा सकी। जब कि उग्र अपनी अकड़ और बदजुबानी के कारण सहज ही सभ्य समाज से दूर होते गए। दोनों की परिस्थितियों और समाज में स्थिति की भिन्नता के कारण भी यह बात थी। बेढब सुशिक्षित थे; अध्यापक थे और अच्छे अध्यापक थे—एक सीमा तक अनुशासन में बंधे; घर-द्वार वाले, शिष्ट कायस्थों की शीन-काफ़ वाली परम्परा में जन्मे, एक सीमा तक जीवन में पुरानी रीतियों के पाबन्द, समाज में एक 'स्टेटस' रखने वाले; जबकि उग्र शुरू से ही विद्रोही, अनुशासन के नाम पर सर्वथा रिक्त, अनिकेतन, औपचारिक शिक्षण और अध्ययन से रहित, फक्कड़ थे,—कभी सोचते न थे कि जो उनके मुंह से निकलता है, वह किस भाव से ग्रहण किया जाता है। बेढब बड़े तर्ज़ और काट-छांट के साथ लगाए गए, सुसिञ्चित पुष्प-पादप थे, जब कि उग्र रामभरोसे जन्मे ऐसे वन-वृक्ष, जिसमें मस्त कर देने वाली सुगन्ध और जीवनीशक्ति तो है किन्तु जिसमें प्रायः चतुर्दिक फैले कांटों पर ही हाथ पड़ते हैं।

•

हां, तो बेढब कविता तक ही सीमित नहीं रहे; उनका हास्य-टिप्पणियों में मुखरित हुआ; व्यंग के छींटों में पनपा और सबसे ज़्यादा वार्तालाप, हाज़िर जवाबी और 'रिपार्टी' की परम्पराओं में व्यक्त हुआ। एक ओर गम्भीरता और दूसरी ओर विनोद-वृत्ति उनमें ऐसी उभरी कि व्यंगों की अद्भुत व्यञ्जना में चमक उठी। उनमें अपना एक मज़ाक फूटा; अपना ही एक ढंग विकसित हुआ। बातें बनाते थे किन्तु कोई जान न पाता था कि मज़ाक कर रहे हैं। यह तो बाद में मालूम पड़ता था, क्योंकि व्यंग-हास्य की धारा जब उनके मुंह से प्रवाहित होती, तब भी उनका मुख-मण्डल गम्भीर और स्थिर बना रहता। वह खुद अट्टहास किए बिना अट्टहास पैदा करते थे—जादूगर का ऐसा कर्तब, जिसमें जादूगर दर्शक-मण्डली से अलग, अछूता, बना रहता है।

पाकिस्तान बनने के पहले की बात है। करांची में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। उस सिलसिले में बहुतेरे साहित्यकार तथा हिन्दी-प्रेमी वहां आए हुए थे। इनमें अमृतलाल नागर और बेढब भी थे। एक दिन सुबह सब लोग बरामदे में बैठे चाय पी रहे थे। नागर पर कश्मीरी रंग उछला पड़ता था और ऐन जवानी का आलम था। मज़ाकिया वह भी अपने को लगाते थे। उन्होंने कहा : "कल जब मैं शहर में घूमने गया था, तब एक अजीब घटना घट गयी। लोगों ने मुझे जवाहरलाल समझकर घेर लिया।" पर इस अखाड़े में बेढब को कौन मात दे सकता था ? वह पास ही बैठे थे। मुंह बनाकर बोले : "पता नहीं, यहां के लोग कैसे हैं ! मेरे साथ भी कुछ इसी तरह की घटना हुई।" लोगों ने उत्सुकता के साथ पूछा : "मास्टर साहब, क्या हुआ ?" वह बड़ी गम्भीरता के साथ बोले : "कल मैं बाज़ार की ओर निकल गया था। जब वहां घूम रहा था तो लोगों ने मुझे पं० मोतीलाल नेहरू समझकर घेर लिया।" (मतलब; तुम जवाहर

लाल हो तो मैं तुम्हारा बाप मोतीलाल हूं)। सारा वातावरण अट्टहास से गूंज उठा और एक उपस्थित सज्जन ने आवाज़ लगाई :

"यह रहा लखनवी नहले पर बनारसी दहला !"

एक बार आकाशवाणी पर कवि-सम्मेलन था। बेढब का भी प्रोग्राम था। वह किसी कारणवश देर से पहुंचे। इस पर कुछ टीका-टिप्पणी होने लगी। बेढब ने मुंह पर बड़ी गम्भीरता का भाव लाकर कहा—"भई, इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है। मैं चला तो था समय पर किन्तु करूं क्या, यह स्वराज्य क्या आया कि सबको स्वराज्य मिल गया। रेलवे वालों ने बड़ी लाइन की गाड़ी में छोटी लाइन का इंजन लगा दिया। वह तो कहिए कि प्रतापगढ़ में पता चल गया, तब कहीं इंजन बदला गया। इसी से देर हो गयी।" लोगों ने इसे ठीक समझ लिया और चुप हो गये, परन्तु क्षण-भर बाद ही लगा कि बड़ी लाइन की गाड़ी पर छोटी लाइन का इंजन कैसे लगाया जा सकता है। बस, उनकी हाज़िर-जवाबी पर सब कहकहे लगाकर फूट पड़े। बात इतनी ही थी कि गाड़ी की रफ्तार छोटी लाइन की गाड़ियों की तरह थी।

एक और जवाब याद आ रहा है। जब स्व० सम्पूर्णानन्द जी उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री थे, तो उनके यहां मशायरे, कवि-गोष्ठियां और संगीत-सम्मेलन होते रहते थे। एक बार ऐसी ही कवि-गोष्ठी में अनेक कवि जमा थे। बेढब भी थे। संयोग की बात कि बेढब और सम्पूर्णानन्द दोनों बलिया से लौटे थे। बलिया में मच्छर बहुत होते हैं। सम्पूर्णानन्द जी ने बेढब की ओर मुखातिब होकर पूछा—"क्यों बेढब जी, बलिया में मच्छरों ने आपको उठा ले जाने की कोशिश नहीं की ?" बेढब बोले : "जिसकी रक्षा भगवान करते हैं, उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है ?" सम्पूर्णानन्द जी ने पूछा : "क्या भगवान खुद प्रकट होकर आपकी रक्षा कर रहे थे ?" ज़रा रुककर बेढब ने कहा : "अब क्या कहूं साहब आपसे। रात-भर मच्छरों ने चारपाई से उठा ले जाने की कोशिश की किन्तु नीचे से खटमल इतनी ज़ोर के साथ पकड़े रहे कि उन्होंने हिलने तक नहीं दिया।" बेढब का उत्तर सुनते ही लोग लोट-पोट हो गए।

परन्तु यह बात नहीं है कि उनके साथ सब फूल ही फूल थे, कांटे भी कुछ कम न थे। उन्होंने जीवन में बहुतेरे दुःख उठाये। पैसा ज़्यादा न था, पैसा कमाने की रुचि भी न थी। पुत्र न होने से भी घर में हंसी-खुशी न थी। बहुत बाद में एक लड़की हुई। बुढ़ौती की सन्तान प्यारी होती है। बेढब उसे बहुत चाहते थे; स्वभावतः दामाद को भी, जो बाद में शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी हो गए। फिर भी पुत्र का अभाव अनुभव तो होता ही था। हां, इस दुःख के वातावरण पर, इस एकाकीपन पर उनकी विनोद-वृत्ति छा गयी थी। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि इसी के उच्छ्वास-स्वरूप उनमें हास्य और उससे भी ज़्यादा व्यंग विकसित हुआ; अन्तर की कचोट और वीरानगी की एक झलक उसमें भी थी।

(३)

वह जहां भी रहते थे, मनहूसियत पास फटकने नहीं पाती थी। बोझिल वातावरण में उनकी हंसाइयां इस तरह चहक उठती थीं जैसे अमानिशा में चंचला की चमक। क्षण-भर में वातावरण हलका हो जाता था।

मैं पहले कह चुका हूं कि शुरू की कविताएं अकबर इलाहाबादी के रंग में डूबी हुई हैं। उनमें नई रोशनी पर वही तंज़ और तीखा प्रहार है जो अकबर के काव्य की विशेषता थी। एकाध बानगी लीजिए :

जितने मन्दिर तथा शिवाले हैं।
और पूजा के करने वाले हैं।
सब नया रंग-ढंग अपनायें,
मन्त्र इंग्लिश में बनने वाले हैं।

जो नीली-कट पहनकर शर्ट, पब्लिक में निकलते हैं,
सटी पतलून, काकुल साधना-कट पर मचलते हैं,
सपूतों से इन्हीं कल्याण अपने देश का होगा,
जो हाथों में सड़क पर ट्रांस्जिटर लेके चलते हैं।

परन्तु बाद में इनका अपना ही एक रंग विकसित होता गया, जिसे हम बनारसी रंग कह सकते हैं। एक जगह महंगाई पर व्यंग करते हैं :

आठ रुपये किलो मलाई है।
नहीं मुंह पर रही ललाई है॥

हम बनारसी लोग, अपनी गरीबी में भी, मलाई का सेवन करते थे। उन दिनों बारह आने से एक रुपया सेर थी। बाद में भी बहुत दिनों तक पांच आने पाव मिलती थी और अच्छी, एकचक, मिलती थी। बेढब भी इसके शौकीन थे। पीछे आठ रुपये किलो तक हो गयी थी। परन्तु जब बेढब ने शेर कहा तब उन्हें क्या पता था कि उनके जो साथी आगे रह जाएंगे, उनकी किस्मत में बीस और पचीस रुपये किलो मलाई लिखी होगी, और उसमें भी अरारोट और ब्लाटिंग की मिलावट होगी।

एक जगह 'नई कविता' पर फबती कसते हैं :

चाहते हो यदि कि मैके भाग जाय,
साथ पत्नी के नई कविता पढ़ो।

एक बार उन्होंने 'आधुनिक कृष्ण' की वन्दना करते हुए लिखा :

मुरली को राधिका के कर में सुपुर्द कर,
हाथ में हवाना का सिगार एक लीजिए।
दूध दही माखन को करके सलाम आप,
प्रातःकाल चाय, रात काकटेल पीजिए।

मुरली और राधिका का शीघ्र ही डिवोर्स कर,
सिनेमा स्टार संग लेके रास कीजिए।
माथ प्लेन लेके नाथ उड़िए उसी पर,
है गरुड़ पुराना उसे गोली मार दीजिए।

फिर आज के सन्दर्भ में उलाहना देते हुए कहते हैं :

रास-रंग गोपी संग भूल जाते सारा तुम,
होती बेकारी और होता यदि ठाला तुम्हें।
छूट जाती चोरी सब दही-छाछ-माखन की,
यू० पी० की पुलिस से पड़ता जो पाला तुम्हें।
देखते उठाना गोबरधन तुम्हारा हम,
मिलता जो खाने को घी भी घासवाला तुम्हें।
गोकुल को छोड़ आज मथुरा को जाते यदि,
तुरत तलाक दे देती ब्रजबाला तुम्हें।

उग्र, बेढब और अन्नपूर्णानन्द उर्फ निखट्टू की त्रिमूर्ति वाराणसी की हास्य-व्यंग शैली की जनक है। इन लोगों ने एक परम्परा चलाई जो उनके समय में ही चल पड़ी थी और उनके बाद भी जीवित है तथा काशी का नाम अमर किए हुए है। चोंच, भैयाजी बनारसी, बेधड़क इत्यादि उसी परम्परा की कड़ियां हैं। जैसे उग्र ने 'आज' में अष्टाबक्र नाम से व्यंगोक्तियां शुरू की थीं, उसी तरह उनके वाराणसी से चले जाने के बाद उसमें एक स्तम्भ शुरू हुआ : 'खुदा की राह पर'। इसमें कई लोग टिप्पणियां लिखते थे। एक मण्डली ही थी जिसमें समय-समय पर ('आज' के) दिनेशदत्त झा, सूर्यनाथ तकरू, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', बेढब तथा लक्ष्मीकान्त झा लिखा करते थे। इनमें प्रथम चार आज दुनिया में नहीं हैं; केवल लक्ष्मीकान्त बच गए हैं जिन्होंने हिन्दी से प्रायः संन्यास-सा ले रखा है और सरकारी क्षेत्र में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की है; राजदूत, रिज़र्वबैंक के गवर्नर तथा राजपाल रहे हैं। 'बेढब' इस स्तम्भ में 'खैराती खां' के नाम से लिखा करते थे। 'आज' से सम्बन्ध टूटने के बाद जब कमलापति ने 'संसार' निकाला तो उसमें 'धरहरे से' स्तम्भ चलाया और वेणीमाधव बन गए।

•

वैसे इनका खानदान था तो आजमगढ़ी बल्कि निज़ामाबादी किन्तु इनका जन्म संवत् १९५२ वै० (१८९५ ई०) में देवोत्थान एकादशी के दिन वाराणसी में हुआ था। पिता थे कट्टर आर्यसमाजी; मां थीं शुद्ध सनातनी। बेढब में दोनों का प्रभाव दिखाई देता था। वह दोनों के संगम थे। एक बार उन्होंने खुद ही बताया था कि उनके निर्माण में पिता का प्रताप, माता का पुण्य, गुरुओं का आशीर्वाद, डाक्टरों की दवा और श्रीमती जी के बनाए भोजन एवं जलपान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका अंग्रेज़ी साहित्य का अच्छा अध्ययन था। यों भी वह डबल एम० ए० थे। जीविका और सेवा दोनों दृष्टियों से इन्होंने मास्टरी चुनी और

जन्म-भर 'मास्टर साहब' बने रहे। स्कूल के अन्दर के मास्टर साहब और बाहर के मास्टर साहब दो भिन्न जीव मालूम पड़ते थे। स्कूल में उनका कठोर अनुशासन देखकर मुंहलगे लड़के भी दंग रह जाते थे; बाहर वह एक प्रेमल, कोमल, स्नेही जीव थे। साहित्य में भी उनके दो रूप दिखाई पड़ते हैं: एक हास्य-व्यंग से पूर्ण विदूषक वाला; दूसरा निबन्धों और गम्भीर कविताओं में बिखरा विचारक तथा भावुक रूप। बहुत कम लोग जानते हैं कि उन्होंने उच्चकोटि की उत्तेजक राष्ट्रीय कविताएं भी लिखी हैं। एक तो मुझे, अनेक युग बीत जाने पर भी याद आ रही है:

जुनूने हुब्बे कौमी में करेंगे चाक दिल अपना,
लिखेंगे खून से अशआर, वीरों के कलम होंगे,
बढ़ेंगे जंगे आज़ादी में यों हिन्दोस्तां वाले,
जो बाजू होंगे अर्जुन के तो अंगद के कदम होंगे।

(४)

एक व्यक्ति के रूप में वह हरदिल अज़ीज़ थे। उनके पहुंचते ही मण्डली की गम्भीरता पर हंसी-खुशी की चांदनी बिखर जाती थी। वह सुकवि और सुलेखक थे पर उससे भी ज़्यादा एक अच्छे इंसान थे। फरिश्ते नहीं थे, कमज़ोरियां उनमें भी थीं, खाते-पीते भी थे परन्तु सब बातों पर एक नियन्त्रण था। उग्र की तरह नशे में बहकते नहीं थे। व्यवहार-कुशल एक नम्बर के थे। पहनने-ओढ़ने का शौक था; यों सूट पहनते थे परन्तु स्कूल के बाहर प्रायः खादी का कुर्ता पहनते थे; बेंत या सोंटा हाथ में ज़रूर रहता था। अक्सर चश्मा लगाते थे। यारबाश आदमी थे, इसलिए दोस्तों से घिरे रहते थे। सड़क पर भी वह अकेले बहुत कम निकलते थे। एक झुण्ड साथ चलता था।

मेरे साथ उनका सम्बन्ध आजीवन सुखद बना रहा। १६२६ में जब मैं बम्बई जाने लगा तो उन्होंने स्व० विनोदशंकर व्यास के साथ मिलकर, मेरे सम्मान में एक जलपान-गोष्ठी आयोजित की थी। इसमें प्रसाद, प्रेमचन्द, बेढब, शिवपूजन इत्यादि ने उपस्थित होकर सम्मिलित रूप से मुझपर स्नेहाशीर्वादों की वर्षा की थी। मेरे काशी से बाहर चले जाने पर वह रोज़-रोज़ की बैठकी तो समाप्त हो गयी किन्तु स्नेह-सम्बन्ध बराबर बना रहा। मेरी अनुपस्थिति में भी मेरे निजी पुस्तकालय से वह दुर्लभ पुस्तकें ले जाते थे। पुस्तकों के विषय में वह बड़े दुर्बल थे। बहुत-सी अच्छी पुस्तकें खरीदते रहते थे, परन्तु वैसे भी किसी मित्र के यहां से, या किसी पुस्तकालय से, अपने मतलब की पुस्तक ले जाते और फिर लौटाने का नाम न लेते थे। कह भी देते कि स्त्री और पुस्तक दूसरों को देने के लिए नहीं होती। जो दूसरों को देता है वह तो मूर्ख है ही किन्तु वह उससे भी बड़ा मूर्ख है जो उन्हें पाकर लौटा देता है। कार्माइकल लाइब्रेरी की न जाने कितनी अप्राप्य पुस्तकें उनके संग्रह का अंग बन गयी थीं।

•

जीवन के उत्तरकाल में उनके चेहरे पर एक छाया आने लगी थी। वाणी में तो वही ताज़गी थी किन्तु शरीर लट चला था। ३ मार्च १९६८ को उनकी तबीयत खराब हुई तो खराब ही होती चली गयी। ९ मार्च को दिन साढ़े दस बजे सर सुन्दरलाल अस्पताल (वाराणसी) में, चिकित्सकों के प्रयत्न के बावजूद उनका देहावसान हो गया। इस प्रकार हज़ारों श्रोताओं को हंसाने और मित्रों को हंसी-खुशी के कुछ क्षण देने की उनकी तपस्या का अन्त हो गया। वह चार्ली चेपलिन को संसार का महामानव कहते थे क्योंकि अपने दुःख के भीतर से उठकर उसने संसार के विभिन्न देशों के कोटि-कोटि जनों के जीवन को हास्यमधुर बनाया दो क्षण हंस लेने का मौका दिया। बेढब खुद भी कुछ इसी तरह के इंसान थे; उन्होंने को अन्तर दुःख किसी को देखने का मौका नहीं दिया और सुख की रागिनी में सबको शरीक करते हुए हमारे बीच से चले गए। क्या कहें ? उनकी हंसी तो हमने देखी है; सबने देखी है परन्तु उस हंसी के पीछे अन्तर्भूत और प्रच्छन्न दुःख किसने देखा है ?

जो तार से निकली है वो धुन सबने सुनी है,
जो साज़ पे गुज़री है, वो किस दिल को पता है ?

बेढब द्वारा सम्पादित पत्र :

तरंग, आंधी, भूत, भांड़, करेला, खुदा की राह पर, प्रसाद

बेढब की कुछ प्रसिद्ध रचनाएं :

बेढब की बहक (कविता); मसूरीवाली, बनारसी एक्का, टनाटट, लेफ्टेण्ट पिगसन की डायरी (उपन्यास)

(सेठ) गोविन्ददास

परिचय

१९२७ ई० में, जब मैं बम्बई में मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के प्रमुख पत्र 'अग्रवाल समाचार' का सम्पादक था, तब अपने कृपालु आतिथेय स्व० केशवदेव जी नेवटिया से सेठ गोविन्ददास जी[1] की पहली जानकारी प्राप्त हुई थी। तबसे उनके सार्वजनिक जीवन पर बराबर मेरी दृष्टि रही है। संयोग की बात कि १९३० ई० के तूफानी दिनों में, मेरी शादी जबलपुर में हुई और उनके साथ निजी परिचय के जीवन का आरम्भ हुआ। जब-जब मैं जबलपुर जाता, उनसे ज़रूर मिलता;—अक्सर तो वह मेरे आगमन की सूचना पाकर, मेरे उपयोग के लिए अपनी फिटन या मोटर भेज दिया करते। कई बार उनके घर पर, यानी महल में, भी ठहरा। उस समय प्रौढ़ युवावस्था थी उनकी। बड़ा आकर्षक व्यक्तित्व था; गेहुवां रंग, मझोला कद, गुदगुदा भरा शरीर, प्रकाश से भरे नयन, छोटे-छोटे खूबी के साथ तराशे हुए बाल, शुभ्र गांधी टोपी और मोटे फ्रेम का चश्मा, मुस्कराते ओठ। दिल में भी उस समय बड़ी लोच थी। घण्टों बैठ हम देश और साहित्य की बातें करते। उन दिनों मैं कविताएं लिखता था; वह भी थोड़ी-बहुत लिखते थे। हम दोनों एक-दूसरे की सुनते। सुनते और बहुत वक्त बीत जाने पर बढ़िया जलपान या भोजन करते, कीमती चांदी के पात्रों में, जो गृहपति की स्वादवृत्ति की अपेक्षा उसके वैभव की ही अधिक सूचना देते थे।

उत्सर्ग की आंधी

एकाएक १९३२ ई० में, जब मैं 'त्यागभूमि' के सम्पादन के सिलसिले से अजमेर (राजस्थान) में था और सारे देश में सत्याग्रह की ज्वाला धधक रही थी, वहां की सब राष्ट्रीय संस्थाएं—गांधी आश्रम, हटुण्डी, सस्ता साहित्य मण्डल इत्यादि—अध्यादेश की भेंट चढ़ गयी थीं और मैं प्रान्त के डिक्टेटर के रूप में अव्यवस्थित-सा मारा-मारा फिर रहा था, सन्निकट थी मेरी जेल-यात्रा, कि गोविन्ददास जी का एक पत्र पाकर मैं हैरान-परेशान रह गया। इस पत्र में लिखा था कि समस्त पैतृक सम्पत्ति का त्याग उन्होंने कर दिया है और फिलहाल देवालय में रह रहे हैं। उसमें यह भी था कि हमारे पूर्वज कभी लोटा-डोर लेकर

1. जन्म : जबलपुर, १६ अक्तूबर, १८९६ ई०; मृत्यु : बम्बई, १८ जून, १९७४ ई०

राजस्थान से आये थे। समय आ गया है कि वह अपनी उस परित्यक्ता भूमि की गोद में फिर लौट आयें। 'हमारे भरणपोषण के लिए ५०-६० रुपये मासिक पर्याप्त होंगे। आशा है, आप सब मित्रों के सहयोग से इतने की व्यवस्था तो हो ही जायेगी।'

परन्तु यह त्याग पचाया नहीं जा सका, उसकी कथा एकाकी न रखी जा सकी। देश-भर में गोविन्ददास जी के अनुपम त्याग का बड़ा शोर-शराबा हुआ। निस्सन्देह इसके पीछे मेरे स्वर्गवासी मित्र जबलपुरी पत्रकार हुक्मचन्द 'नारद' का बड़ा हाथ था। उस समय क्या, जब तक वह जिये, गोविन्दास जी के सार्वजनिक जीवन को उजागर करनेवाले छोटे से छोटे काम को जनता के आगे उजागर करके रखने की भूमिका बड़ी वफादारी के साथ निबाही। उस ज़माने में तो यहां तक कहा गया कि राजस्थान के इस सपूत के रूप में मातृभूमि को एक नया 'भामाशाह' मिला है।

राजस्थान के सारे अग्रज नेता पहले से ही जेलों में थे, मेरा भी एक पांव जेल में, एक बाहर था। अन्त में मैं पकड़कर जेल में बन्द कर दिया गया। पत्नी ने भी अनुगमन किया। इसलिए मैं गोविन्ददास जी को राजस्थान में लौट आने की उनकी इच्छा की पूर्ति में कोई सहायता न कर सका, बात जहां की तहां रह गयी।

आंधी आई और निकल गयी। जेल से छूटकर मैं वर्धा, पहले जमनलाल जी और बाद में बापू के पास, चला गया। हरिजन-प्रवास में भी, शुरू में उनके साथ, निजी सचिव के रूप में, काम करता रहा। उस सिलसिले में मध्य प्रदेश के अधिकांश नगरों, कस्बों और कसबों में जाने का अवसर मिला। जबलपुर पहुंचे तो वहां बहुतेरी बातें सुनीं। 'नारद' ने कहा, "अरे, वह सब तो एक नाटक था।" बाद में जब सत्याग्रह का भय समाप्त हो गया और अंग्रेज़ी शासन की प्रतिहिंसा-वृत्ति शान्त हो गयी, गोविन्ददास जी पुनः अपने पैतृक महल में लौट आये। लोक-जिह्वा ने फुसफुसाकर कहा कि सरकार समस्त सम्पत्ति ज़ब्त न कर ले, इसलिए यह सब किया गया था।

वैसे बात बहुत छोटी है, किन्तु इस व्यक्ति गोविन्ददास जी के जीवन की कुंजी हमें मिलती है : भोग में त्याग और त्याग में भोग। उनमें उत्सर्ग के बीज तो थे और उसकी प्रेरणा-वश उन्होंने सदा देश के विविध आन्दोलनों में भाग लिया, कष्ट सहे, बार-बार जेल गये किन्तु यह सब निर्लिप्त नहीं था। इसीलिए त्याग का बराबर प्रचार भी होता रहा, नियमित प्रचार—समाचार पत्रों के माध्यम से और तरह-तरह के उपायों से।

बहरहाल, वह मध्य प्रदेश के चोटी के सार्वजनिक नेताओं में थे और उनको वे सब साधन सुलभ थे, जो हमारे देश में एक नेता का निर्माण करते हैं : प्रेस, प्लेटफार्म, मित्रों एवं अनुगतों की भीड़, रुपया-पैसा, सामन्ती ठाठ-बाट या रूपक, और उन सबके बीच त्याग का चतुराई पूर्ण अभिनय, बोली में मिठास और दिल

जीत लेने का गुण। स्वभावत: वह प्रान्त के नेताओं की अग्रिम पंक्ति में रहे।

परन्तु इतना होते हुए भी वह विष्णुदत्त शुक्ल या माधवराव सप्रे नहीं हो सके। उस निर्वैयक्तिक महिमा तक उनकी पहुंच न थी। हां, अपने प्रभाव के कारण वह सदा लोक सभा के लिए चुने जाते रहे। वह लोक सभा के सबसे पुराने सदस्य थे और इसीलिए उन्हें 'फादर ऑव दि हाउस' (सदन का पिता) कहा जाता था। लोक सभा में उनके भाषणों और कार्यों की एक गौरवपूर्ण परम्परा रही है और अपने ढंग पर उन्होंने बहुतेरे उपयोगी काम किये-कराये हैं। इस सिलसिले में अनेक बार उन्होंने विदेशों का भ्रमण किया है, जिनके इतिवृत्त उनके लिखे यात्रा-विवरणों में हैं।

गांधी जी के राजसिक अनुयायी

सार्वजनिक विचार-धारा में वह गांधी जी के अनुयायी थे, परन्तु गांधी जी का आग्रह रचनात्मक सेवा वाले जीवन की ओर अधिक था; धारा सभाओं में उनका हार्द अनुबन्ध कभी न रहा। इस दृष्टि से गोविन्ददास जी गांधी जी और जवाहरलाल दोनों के खिल्त-मिल्त अनुयायी थे। दोनों की ओर देखते हुए चलना उनके लिए स्वाभाविक था। एक आत्मा का राजा था परन्तु कोई ठोस, सत्ता का पद उससे प्राप्त न हो सकता था; दूसरा राजनीति की सत्ता और पद वाली दुनिया का मालिक था और खुश होने पर किसी को आसमान पर चढ़ा सकता था। दोनों के खुश रहने में ही कल्याण था। गोविन्ददास जी सामंती जीवन की उस राजसिकता को कभी छोड़ न पाये, जिसे छोड़ने का अभिनय उन्होंने एक दिन किया था। छोड़ सकते भी न थे; वह बचपन से उनकी प्रकृति में थी। वह खरी आलोचना की जगह दंभपूर्ण चाटुकारिता से खुश होने वाले थे और ऐसे ही लोगों की मण्डली से घिरे रहते थे। यह उनका दोष भी था; दुर्भाग्य भी था। यद्यपि बहुत से लोग इसे ही अपना चरम सौभाग्य मानते हैं।

साहित्यकार के रूप में

साहित्यकार के रूप में उनका विकास भी भारतीय जीवन का एक चमत्कार है। असल में इनके किसी ज़माने के अभिन्न मित्र, द्वारकाप्रसाद मिश्र का निर्माण प्रकृति ने इसके लिए किया था, जो शुरू से थे एक बौद्धिक प्राणी। पत्रकार एवं साहित्यकार बनने का शौक उन्हें था भी; उनकी वैसी चेतना, तैयारी और प्रवृत्ति भी थी, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें बना दिया राजनीतिज्ञ, बल्कि बाद में कूटनीतिज्ञ। राजनीति ने उन्हें फुसलाया, बहलाया, गुदगुदाया, दुलराया और बाद में उन्हें उदरस्थ कर गयी। हिन्दी की यह निश्चित हानि हुई। सिवाय महाकाव्य 'कृष्णायन' के वह हमारे साहित्य को कुछ न दे पाये। इसके उलटे गोविन्ददास जी का झुकाव शुरू से राजनीतिक कार्यों की ओर था। १९३०-३२ तक उनमें साहित्यकार का जन्म नहीं हुआ था और हुआ भी हो तो वह

बिल्कुल प्रच्छन्न, अविदित, था। जेल में उनके पास समय काफी था। वहीं उनमें लिखने की स्फूर्ति हुई और जब लिखना शुरू किया तो राजनीति की भांति साहित्य में भी जहां देखिए, वहीं वह उपस्थित। १५ वर्षों के अन्दर तो उन्होंने रचनाओं के ढेर लगा दिये। हमारे साहित्यकारों के सामान्य जीवन-क्रम के अनुगमन में पहले स्फुट कविताएं लिखीं; फिर नाटक की ओर उनका ध्यान गया तो जीवन में १०८ नाटक (एकांकी-समेत) लिखकर एक मालिका ही तैयार कर दी। इन नाटकों में हर तरह की विधाएं मिलती हैं: पारम्परिक, प्रयोग-वादिनी, आदर्शोन्मुखी तथा तथ्यात्मक। यह ठीक है कि अपने अभूतपूर्व उत्साह और १०८ कृतियों की मालिका पूर्ण करने के उद्वेग में कला के विकास अथवा शिल्प की ओर उनका ध्यान उतना नहीं रहा। इसलिए उनका साहित्य मोल की अपेक्षा तौल में भारी होकर रह गया है। कर्तव्य, हर्ष और प्रकाश उनके प्रारम्भिक नाटक हैं।'कर्त्तव्य' का क्षेत्र, मोह-वश, इतना विस्तृत कर दिया गया है कि उसमें राम और कृष्ण जैसे महनीय चरित्र एकत्र हो जाते हैं: लम्बे अन्त-राल वाले दो युग एक में गूंथ दिये गये हैं। नाटक अपनी गति से नहीं चलता; लेखक अपने आरोपित विचारों के प्रकाश में, चरित्रों को धकेलते हुए चलाता है। पात्र नहीं, लेखक यहां प्रधान है। चरित्र जीवित चरित्र नहीं रहते; उनमें अपनी संजीवनी नहीं—'स्टैटिक' होकर रह जाते तथा कठपुतली की भांति चलाये जाते हैं।

यह दोष उनके अधिकांश नाटकों में है। इस दृष्टि से 'सेवापथ' ज़्यादा अच्छा और स्वाभाविक है। गोविन्ददास जी की विशेषता यह है कि उनकी दुकान में हर तरह का माल है: पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आदर्शात्मक, व्याख्या-त्मक, उपदेशात्मक, सुखान्त, दुःखान्त सभी प्रकार के नाटक उन्होंने लिखे हैं। नाटक-साहित्य को हर प्रकार की सामग्री उन्होंने दी है। परन्तु दुःख यह है कि वह हरिश्चन्द्र, प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण लाल, प्रभाकर किसी पुराने-नये नाटककार की पंक्ति में नहीं रखे जा सकते। इतना लिखकर अलग-थलग, एकान्त में, छूट जाते हैं।

महाकाव्य प्रणेता—मानो प्रत्येक विधा में अपनी क्षमता का प्रदर्शन ही करना था, इसलिए उन्होंने स्फुट कविताएं ही नहीं लिखीं, एक महाकाव्य (प्रेम-विजय) की भी रचना की है। यह १३ सर्गों में विभाजित है। कथा तो वही पुरानी, अनेक बार की कही हुई, है: श्रीकृष्ण के हाथ बाणासुर का पराभव और उसकी पुत्री उषा की प्राप्ति। श्रीकृष्ण का चरित्र तो वैसे ही उदात्त और गहन है। वह आदर्शवादी नायक हैं और उनके चित्रण में भी गांधी युग की प्रेरणाओं और आदर्शों की छाया है। लेखक ने अपने जीवन पर पड़े उसके प्रभाव का प्रक्षेपण किया है और श्रीकृष्ण के अगाध, रहस्यात्मक चरित्र के चित्रण के स्थान पर अहिंसात्मक युद्ध की विजय की प्रस्थापना की है। फिर भी काव्य में कुछ सुन्दर सूक्तियां मिलती हैं; प्रकृति-वर्णन तथा उसके सौन्दर्य की दीप्ति भी है। पौराणिक

कथा का आधुनिक संस्करण, बल्कि गांधीवादी संस्करण हमें इसमें मिलता है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि राजनीतिज्ञ के कठोर एवं गद्यात्मक आवरण के नीचे गोविन्ददास जी में मृदुल, प्रेमल भावनाओं का एक उत्साह भी है। इस क्षेत्र में यदि वह अधिक प्रयत्नशील होते तो शायद नाटककार की अपेक्षा अधिक सफल होते।

उपन्यासकार——किन्तु साहित्य में सबसे अधिक सफलता तो उन्हें उपन्यासकार के रूप में मिली है। उन्होंने एक ही उपन्यास लिखा : 'इन्दुमती।' उपन्यास काफी बड़ा है; परन्तु उसमें उनकी सफलता अभूतपूर्व और अप्रत्याशित है। कथा, चरित्र-चित्रण, सामाजिक दृष्टि, उदार मनोभूमिका तथा वैचारिक विशदता, हर दृष्टि से, 'इन्दुमती' का हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। आश्चर्य कि गोविन्ददास जी जैसे आदर्शवादी, आस्थावादी, साहित्यकार की कलम से यौन प्रेरणाओं और नारी-स्वातन्त्र्य की अत्याधुनिक मांगों का ऐसा चित्रण संभव कैसे हुआ ? इन्दुमती एक स्वकेन्द्रिता ऐसी नारी है जो नारी की आत्मार्पण प्रवृत्ति या गुण से सर्वथा रहित है। वह केवल अपने भोग, अपने सुख के लिए जीती है। उसके जीवन के सारे प्रयास इसी ओर उन्मुख हैं। स्वच्छन्दता ही उसके लिए प्रेम है; विवाह उसके लिए अप्राकृतिक बन्धन है। पतियों को प्राप्त स्वच्छन्दता नारी को क्यों नहीं, इस तरह सोचकर चलती हुई, एक के बाद दूसरे का रस लेती, मधुवृत्तिका नारी है वह। कहीं कोई पड़ाव नहीं है; कहीं नीड, विश्राम या विलय नहीं है। उसके लिए लोक-लज्जा जैसी कोई चीज़ नहीं है।

बहुत बड़ा उपन्यास है यह। मोल में भी और तोल या आयतन में भी। अपनी भारी-भरकम परिधि में कितने ही सामाजिक प्रश्नों को समेटे चलता है। यह ठीक है कि इन्दुमती का चरित्र कहीं-कहीं ग्रन्थकार के अपने विचारों की परिणति से दबकर अस्वाभाविक हो गया है और अन्त में उसे बलात् एक देहाती मातृगृह की सेविका के रूप में बदलकर कथा एवं चरित्र-परणति की प्राकृतिक धारा को अवरुद्ध कर दिया गया है। लगता है कि इन्दुमती में विकृतमना आत्मकेन्द्रिता जिस नारी का सृजन ग्रन्थकार ने किया है, वह दुर्द्धर्ष, दुर्घट, किसी भी नियम-बन्धन को न माननेवाली, सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों को अपने पदाघात से क्षत-विक्षत और चूर-चूर करती चलनेवाली इन्दुमती अकस्मात्, लेखक द्वारा उसके चरित्रगत सत्य की भीषणता का सामना न कर सकने के कारण, शून्य में डुबा दी गयी। उसकी भयानक परणति शायद एक आस्थावान साहित्यकार के सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों का उपहास-सी लगती। परन्तु वही होती उसकी अपूर्वता, वही होता उसके विष का अमृत।

फिर भी अपने व्यापक 'कैनवेस' के कारण, इन्दुमती हमारे साहित्य में एक विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है।

●

गोविन्ददास जी ने यात्रावर्णन भी लिखे हैं। उन्होंने विश्व के अनेक देशों का,

और अपने देश का भी, कई बार भ्रमण किया था। उनके भ्रमण-वृत्तान्त स्वाभाविक एवं रोचक हैं। 'आत्मनिरीक्षण' उर्फ आत्मकथा भी उन्होंने लिखी है परन्तु वह सामान्य कोटि की है। आत्मकथा लिखना वैसे भी बहुत कठिन कार्य है; उसके लिए अपने प्रति योगी की तटस्थ वृत्ति चाहिए, जैसी गांधी जी में थी। अपने प्रति ममत्वहीन, सूक्ष्म दृष्टि, जिसमें आत्मपीड़न भी न हो, रखनेवाला ही आत्मवृत्त को कला की सीमा पर पहुंचा सकता है। सामान्य प्राणी अपने को या तो बहुत देखते हैं या कम देखते हैं। गोविन्ददास जी से भी इससे ऊपर उठने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वह राष्ट्र के एक सैनिक थे; नेता थे—नेता जो अपने कुटुम्ब की सामाजिक-साम्प्रदायिक परम्पराओं और सामन्ती वातावरण में पलकर बड़ा हुआ था। वह उसी वातावरण की उपज थे; उसके खोल को बहुत काटने का यत्न करने पर भी, उसका सूक्ष्म अस्तित्व उनके जीवन में, साहित्य में, प्रचारकला में, यशैषणा में, सेवा में तथा समयानुसार अपना क्षेत्र परिवर्तन करने में दिखाई पड़ता है।

एक मानव के रूप में वह बहुत अच्छे, प्रेमल, शिष्ट, सहृदय थे। परन्तु उनकी ट्रेज़ेडी यह थी कि एक साथ ही अनेक नावों पर पैर रखते हुए चलते थे। यदि उन्होंने राजनीति को एक देशभक्त के निजी अंशदान के रूप में अपनाकर केवल हिन्दी और उसके साहित्य की ही पूजा-अर्चा में अपने को विलीन कर दिया होता तो वह सरस्वती की आराधना के सिद्ध पुरुष होते। परन्तु हमारे देश की ट्रेज़ेडी ही यह है कि यहां राजनीति में जो 'ग्लैमर' (चाक-चिक्य) है, जय-जयकार है, प्रतिष्ठा है, सत्ता, अधिकार और स्वागत है, वह संस्कृति एवं समाज के प्राणतत्त्व को संचालित करने वाले तथा राष्ट्र में आत्मा और सूक्ष्म चेतना का सृजन करने वाले साहित्यकार को नसीब नहीं। उसके ऊपर तो महज़ आकाश है, नीचे धरती और इन दोनों के बीच में उसकी अपने प्रति आस्था। बस, वह भविष्य की खाद बनकर रह जाता है।

स्पष्ट है कि गोविन्ददास जी इस प्रकार की एकान्त पूजा या सरस्वती की आराधना के लिए बने नहीं थे। उनमें जो अनेक प्रेरणाएं थीं, वे सब अपनी पूर्ति के लिए उनके प्रति आग्रही थीं और किसी को वह इन्कार नहीं कर सकते थे। गांधी जी ने एक बार बातचीत के सिलसिले में कहा था : "इट रिक्वायर्स ग्रेट मॉरल करेज टु से नो, समटाइम्स।" अर्थात् "कभी-कभी इन्कार करने के लिए बड़े नैतिक साहस की आवश्यकता होती है।" गोविन्ददास जी अपनी एकान्त पूजा के लिए अपनी किसी सुप्रवृत्ति को नकारने के लिए तैयार नहीं थे। वे साहित्य में, राजनीति में, हिन्दी के क्षेत्र में, गोसेवा में, मारवाड़ी समाज की उन्नतिशील सांघटनिक प्रक्रियाओं में अनेकानेक मैदानों पर सक्रिय थे। चारों ओर उनका मन दौड़ता था। वह केन्द्रोन्मुखी नहीं, केन्द्रापसारी व्यक्ति थे। अर्जुन की लक्ष्यवेध वाली एकाग्रता नहीं, अपने चारों ओर देखते चलने वाली और हर जगह से रस का संचय कर लेनेवाली भ्रमरवृत्ति थी उनमें। इसीलिए योग्यता और क्षमता होते

होते हुए भी न साहित्य में, न राजनीति में वह चोटी का स्थान प्राप्त कर सके।

राष्ट्रभाषा यज्ञ—राष्ट्रभाषा के यज्ञ में वह हमारे अग्रज थे, अगुआ थे और टण्डन जी के बाद सहज ही उनका स्मरण हो आता था। किन्तु हिन्दी जब तर्क नहीं, आहुति चाहती थी तब वह दिल्ली के मंच पर उसके पक्ष में बोलकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते थे। हिन्दी के जो लोग लोकसभा और विधानसभाओं में थे, वे सब सत्ता और पद को रुचनेवाली शब्दावली में बोलते रह गये। एक भी माई का लाल ऐसा न निकला, जिसने भाषा के प्रश्न पर हिन्दी के पक्ष में इस्तीफा दिया होता। इसलिए आज तक हिन्दी कागज़ों में रहकर भी अपदस्थ है, क्योंकि सत्ता शक्ति की जिस भाषा के आगे नतमस्तक होती है, वह हममें थी नहीं, है नहीं।

अन्तिम मिलन

अभी गत वर्ष, १९७४ की फरवरी में, उनसे मिलने जबलपुर गया था। वही चिरपरिचित मुस्कान, वही सहृदय आलिंगन, वही शिष्ट, सुसंस्कृत मुखमण्डल! देर तक बातें होती रहीं। इस बार उनके गालों पर वह गुदगुदापन न था, जो मैं सदा देखता आया था। आंखों में वह तेज भी न था, जिसे देखने के हम आदी थे। शरीर में घुन लग गया था। हम दोनों प्रायः एक ही कोटि में थे। मैं 'डिमाण्ड पेसमेकर' की सहायता से जी रहा था, बल्कि जिलाया जा रहा था। उनका शरीर भी खोखला होता जा रहा था। अस्पताल से परीक्षा कराके ही आये थे, परन्तु शीघ्र अच्छे हो जाने का दृढ़ विश्वास उन्हें था।

परन्तु जून (१९७४) में मेरी हालत एकाएक खराब हो गयी। शीघ्रता से मुझे दिल्ली के आल इण्डिया इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल साइंसेज़ के हृद्रोग-विभाग में स्थानान्तरित किया गया। वहां दो आपरेशन हुए। हालत बहुत खराब हो गयी। डाक्टर हताश हो गए थे। किसी तरह बच गया, परन्तु बचकर भी पंगु-सा हो गया। तब से आजतक लड़खड़ाते हुए कदमों से जीवन-पथ पर चला जा रहा हूं। जब मैं अस्पताल में शय्याग्रस्त था, तभी सुना कि १८ जून, ७४ को बम्बई में गोविन्द जी का देहावसान हो गया।

उनमें अमित संभावनाएं थीं; सब व्यक्त नहीं हो पाईं। मैं उनके प्रति अत्यन्त आशावान था; यहां तक कि आशा की पूर्ति न होने पर बड़ी खीझ होती थी। १९७१ में उनकी पचहत्तरवीं वर्षगांठ के समय मैंने उनका एक शब्दचित्र अंकित किया था। कुछ तीखा है किन्तु उसमें उनके प्रति मेरा जो ममत्व था, आग्रह था, अपेक्षा थी, उसकी पुकार और हुंकार है। वह उस समय अप्रकाशित ही रह गया था। यहां, तस्वीर का वह पहलू, हाजिर है।

एक शब्द-चित्र

जिसके बालों पर सफेदी छाने लगी है परन्तु जिसके गालों को अब भी

जवानी छोड़ नहीं पाती है; चौड़ा माथा, बुढ़ापे पर जवानी की कलफ़ लगाये, सचमुच पचहत्तर के पर देखने में साठा और पाठा-से, जिनकी गति में संभ्रम और वाणी में लोच है; बड़ी-बड़ी आंखें और मोह लेने वाली परन्तु चाणक्य की भाषा बोलने को आतुर-सी मुस्कान, राष्ट्र के युद्ध और निर्माण के एक दीर्घ साक्षी ! यह हैं गोविन्ददास जी !

गोविन्ददास जी ७५ वर्ष के हुए। इस लम्बे जीवन में अनेक युगों और अनेक प्रकार के मूल्यों का समावेश है,—ऐसे युग जो एक के बाद एक चलते हुए भी मानो एक-दूसरे का निराकरण करते जा रहे हों और ऐसे मूल्य जो एक-दूसरे को काट-काट जाते हैं। १९२० के पूर्व की हिंसा से उबलती, मरने-मारने को पग-पग पर तैयार देशभक्ति। वह था एक ज़माना, जहां गीता और पिस्तौल साथ-साथ चलती थी; जहां पहले अपना घर लूटकर, दूसरों के यहां डकैती करनी पड़ती थी। पाप और पुण्य सबका मां के चरणों में समर्पण। फिर इन वक्र-गतियों और चिन्तनाओं पर छा गयी गांधी की आंधी—जिसने सब-कुछ जड़ मूल से हिला दिया। राष्ट्र का मानस अहिंसा और प्रेम की अजस्र वर्षा से धुल गया और उस पर छा गयी सात्विकता की चांदनी। फिर प्रकाश और अन्धकार की आंख-मिचौनी का युग आया। लम्बा संघर्ष। इस संघर्ष में राष्ट्र की काया की बेड़ियां कट गयीं। प्रथम बार राष्ट्र के चक्रवर्तित्व की बागडोर भारत के हाथ आयी। शक्ति धर्म-स्नाता होकर अमृत हो जाती है; शक्ति अनियंत्रित और उन्मद होकर शिव को पददलित कर देती है। कुछ ऐसा ही हुआ यहां। माता की भांति सतत् उत्सर्ग करने का आदर्श रहा है भारतीय संस्कृति का। वह अपने उत्सर्ग के अमृत से ही काल के लम्बे व्यवधानों में भी जीती रही है। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद वह सब विस्मृत हो गया। साम्राज्यों की श्मशान-भूमि दिल्ली सदा से ही भौतिक उत्कर्षों का शिकार रही है। हमारी भी वही गति हुई। काया के साथ माया आयी और आत्मा विस्मृत हो गयी। फलतः भारत के युगानुभूत मूल्य ठुकरा दिए गए और सत्ता की, भोग की राजनीति का राजसूय यज्ञ आज तक चल रहा है। सब जगह यह सत्ता की राजनीति हावी हो गयी है—साहित्य में, शिक्षा में, धर्म में, संस्कृति में। और इसीलिए हृदय बड़ी-बड़ी सभाओं और उपदेशों के बावजूद विच्छिन्न होते जा रहे हैं। आज सबका बाज़ार-भाव तय हो गया है। कोई अच्युत नहीं है। राजनीति सबको खरीद सकती है।

इन बदलते हुए दृश्यों एवं मूल्यों के बीच गोविन्ददास जी चलते रहे हैं। एक ओर वैष्णव हृदय की मृदुलता और दूसरी ओर बणिक की सत्ता के साथ लगे रहने, उससे जो लाभ संभव हो, वही उठा लेने की इच्छा। गोरक्षा और हिन्दी के प्रति समर्पित, पर राह फकीर की नहीं, सर्वस्व-त्यागी की नहीं, सत्ता एवं अधिकार के सहयोग-सम्पर्क से सेवा को संभव कर दिखाने की, लगभग पागलपन तक बढ़ी हुई कामना की राह। फलतः वह सत्ता में होकर भी सत्ता से सदा प्रवंचित ही रहे हैं। ट्रेज़ेडी यह है कि वह देखकर भी नहीं देख पाते कि आज का सत्तावाद उन

सब मूल्यों का निषेध करता है, जो उनके हृदय में हैं। अमृतभाण्ड कांचन-मुखी कभी हुआ नहीं है—प्राचीन सब धर्मों की यही दृष्टि है। मैं देखने को ललकता रह गया कि हिन्दी के प्रश्न पर उस मायावी व्यूह को, जिसका नाम दिल्ली है, कितने हिन्दी वाले छोड़ते हैं ! यह दिनकर, बड़ी-बड़ी शेखियां और डींगें मारने वाला, बचपन और जवानी में जो उत्सर्ग की हुंकार लेकर चलता था और जिसकी कविता में घाटी की रंगरेलियां नहीं, शिखर पर पदाघात करने वाले की चुनौती थी, हिन्दी के ही नाम पर जाकर दिल्ली में खो गया। महाकाव्य के अनेक सर्ग हैं—यह मैथिलीशरण, यह बनारसीदास चतुर्वेदी, यह बच्चन, यह गोविन्ददास, हिन्दी के महन्त ही रह गए; कोई लात मारकर मठ से बाहर नहीं निकला। भोगी बहुत बने–कोई योगी नहीं निकला। किसी ने नहीं समझा कि हिन्दी की लड़ाई, संस्कृति की लड़ाई दिल्ली में नहीं, हमारे देश के तीर्थों में, हमारे देश के कोटि-कोटि अंग्रेज़ी-सरकार-विहीन जनों के बीच लड़ी जाएगी। गोविन्ददास जी में आग थी परन्तु उनमें वह बेचैनी नहीं थी, वह असंतोष नहीं था, जो समस्त बन्धनों को काट देता है, और जिससे बिल और ऐक्ट नहीं बनते, क्रांतियां जन्म लेती हैं।

गोविन्ददास जी से मेरी अन्तिम आशा थी, इसलिए मुझे उन पर क्षोभ है—स्नेह का क्षोभ। काश उनके नाम और जीवन से यह 'सेठ' शब्द हट जाता और वह हमारे बीच राज्य-तिरस्कृता, अधिकार-प्रवंचिता हिन्दी के फक़ीरों की टोली में आ जाते !

•

मुझे याद आता है, लगभग ४५ वर्ष पूर्व का ज़माना, जब यही गोविन्ददास जी अपने राजसिक जीवन का मोह छोड़ राजस्थान में एक सामान्य कार्यकर्ता और सेवक के रूप में आ बसने को आतुर थे—मैं उन दिनों 'त्यागभूमि' का सम्पादक था और राजस्थान के सार्वजनिक जीवन से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क था। वह ४०-५० रुपये मासिक में अपना जीवन बिताने को आतुर थे। और उस फकीरी में वह द्वितीय 'भामाशाह' के नाम से समाचार पत्रों में विख्यात हो गए थे। परन्तु बात चली नहीं और उस कामना के अंक का पटाक्षेप हो गया।

मैं जानता हूं कि उनमें देश के लिए, हिन्दी के लिए कितनी गहरी वेदना है, परन्तु यह वेदना जो मूल्य चाहती है उसे वह दे न पाये, न ही दे पा रहे हैं। वही क्या, कौन दे पा रहा है ? उनकी ट्रेज़ेडी यह है कि वह हृदय से राजनीतिज्ञ, परन्तु परिस्थिति से साहित्यकार हैं, जैसे कि उनके बाल्यमित्र पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र हृदय से साहित्यकार और परिस्थितिवश राजनीतिज्ञ हैं। शुरू में दोनों ऐसे ही थे परन्तु कालचक्र में फंसकर दोनों वह हो गए जो वे नहीं हैं। अब यदि इन्हें 'स्व' को पाना है तो एक का मोह छोड़ना ही होगा। यह द्विधा वृत्ति न होती तो स्वर्ण-सिंहासन कांटों के ताज द्वारा ठुकरा दिया गया होता।

•

फिर भी ये पचहत्तर वर्ष ! लम्बे, मूल्यवान पचहत्तर वर्ष, कांटों से पांवों को छलनी करने वाले पथों से गुजरे पचहत्तर वर्ष ! राजरानी होकर भी जंगल में भटकती द्रौपदी की भांति हिन्दी के वर्तमान छद्मजीवन के बीच और पुराने ज़माने में विपन्ना होकर भी राष्ट्र के मानस पर छाई हिन्दी के प्रेम-गौरव-सम्पन्न जीवन के पचहत्तर वर्ष ! अंग्रेज़ी की घुड़कियों के बीच राष्ट्रमानस में जलते यौवन के रोष और प्रौढ़ावस्था के संयत उपदेश के पचहत्तर वर्ष। पायी काया और खोई आत्मा के थकान-भरे लम्बे पचहत्तर वर्ष ! राष्ट्रीय अभ्युत्थान एवं सांस्कृतिक पतन के पचहत्तर वर्ष ! इन पचहत्तर वर्षों में भारत जन्म-मरण-मालिका के अनेक चक्रों से गुज़रा है। मानो गोविन्ददास जी ही हैं, हमारी आशाओं और निराशाओं, हमारे सृजन और मरण, हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान और हमारे सांस्कृतिक अवमूल्यन के लम्बे पथ के पथिक ! चलो पथिक, तुम्हारी यात्रा अब भी जारी है। अभी बहुत दूर चलना है ! हाटों एवं प्रदर्शनियों, सम्मान-वितरण के यशोलिप्सा से भरे वातावरण में फंसकर कितने साथी रह गए हैं ! क्या तुम एकाकी पगडंडियों पर कुश-कण्टक को चरणों के रक्त का अर्घ्य देते न चलोगे ? एकाकी चलने का साहस उत्पन्न करो– अमर हो जाओगे। सबकुछ भोगकर भी यही कहता हूं—"तुम्हारी जय हो !"

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

२३ मार्च, १९६७ ई० की डायरी से

आकाशवाणी, इलाहाबाद से फोन पर मुझे बताया गया कि मेरे परम घनिष्ठ मित्र 'उग्र' जी[1] का प्रातःकाल ३ बजे दिल्ली के कृष्णनगर में देहान्त हो गया है और यह भी कि वे लोग उनके जीवन पर मेरे चन्द शब्द रिकार्ड करने मेरे यहां आ रहे हैं। सुनकर जी धक् हो गया। न जाने कैसा लगा; जैसे मेरा अपना ही कुछ टूट गया हो, गिर गया हो और जैसे यह सब अविश्वसनीय हो। १९२० से लेकर '६७ तक की एक लम्बी, बहुरूपिणी, सतरंगी, विविध भाव-समन्विता फिल्म सामने से गुज़रने लगी। वह बालारुण के ऊर्जस्वित ओज से भरी ४५-५० साल पुरानी ज़िन्दगी, घिरती हुई तमिस्रा के पटल में डूब गयी है और जिसने जीवन में अपने को कभी स्थिर न होने दिया, कभी विश्राम नहीं लेने दिया, वह चिर निद्रा में खो गया है। दुनिया तो चलती ही रहेगी;—यह निर्मम दुनिया, जिस पर किसी के आने-जाने का कोई असर नहीं होता। परन्तु उनके लम्बे जीवन के एक द्रष्टा और साथी को कुछ अजीब लगता है—बड़ा सूना-सूना-सा लगता है। मृत्यु तो जीवन की जुड़वां बहिन है; वह उसके साथ छाया की तरह लगी है। कब प्रकट हो जायगी, कोई जानता नहीं। लोग आते-जाते रहते हैं; चलचलाव लगा है। किन्तु कुछ मृत्युएं ऐसी होती हैं जो अन्तर को कचोट-कचोट जाती हैं; जी मसोस-मसोस-कर रह जाता है। उग्र की मृत्यु ऐसी ही मृत्यु है। वह एक विशेष व्यक्तित्व-टाइप, एक विशेष जीवन-शैली एवं मूल्य का अन्त है। दिल बैठ-सा गया लगता है। सोचता हूं, जिस आदमी ने जीवन को एक अर्थ दिया था, जो पूरी ज़िन्दादिली के साथ जीता था, जिसने जीवन को रंगीनियां दी थीं, ओज दिया था, उसे घूंघट उघाड़कर रसपूर्ण, भरे-भरे नयनों से देखा था, उत्तप्त हृदय से प्यार किया था—प्यार करता था और ठुकराता था, ठुकराता था और प्यार करता था, आज हमारी पकड़ से दूर चला गया है।

२३ मार्च, १९७०

आज 'उग्र' की तृतीय वर्षी है। बीच-बीच में उनकी याद आती रही है और मुझे बेचैन करती रही है। हर हमसफर जो जाता है, हृदय को श्मशान करके

१. जन्म : पौष शुक्ल ८, संवत् १९५७ (सन् १९०० ई०), मृत्यु : २३ मार्च १९६७ ई० (संवत् २०२४)

छोड़ जाता है। और मैं हूं कि चिनगारियों को चिताभस्म में लपेटे आह और कराह कर लेता हूं परन्तु अक्सर ओठ सिले-सिले कांपकर रह जाते हैं। बोल फूटते नहीं। नहीं जानता, आज स्मृतियां क्यों इतनी बेचैन हैं और बोल फूटते हैं तो फूटते हैं। आज वे चुप न होंगे; आज उनको रोने दो और रुलाने दो।

(२)

शशिमोहन से बेचन—पाण्डेय बेचन शर्मा, जिन्हें हम 'उग्र' के नाम से जानते हैं और जो असल में थे शशिमोहन, उत्तर प्रदेश के लाठी-गंड़ासा चलाने में सरनाम मिर्जापुर ज़िले के चुनार समीपवर्ती सद्दूपुर गांव में, एक बड़े ही सामान्य ब्राह्मण-कुटुम्ब में पं० बैजनाथ पाण्डेय के यहां पौष शुक्ल अष्टमी संवत् १९५७ को पैदा हुए। इसके पहले एक दर्जन भाई-बहिन जन्मते ही या शैशव में काल के गाल में समा गये थे। इसलिए टोटके के रूप में, इनके जीवन की रक्षा के लिए इन्हें कौड़ियों के मोल बेच दिया गया था। संयोग कि टोटका लग गया और यह जी गये। इसलिए इनका वास्तविक नाम तो लुप्त हो गया—यद्यपि इनके हाथ पर गोदने के रूप में वह गुदा हुआ था, और यह सदा के लिए बेचन पाण्डे बन गये।

पुरानी यादें—इतने के बाद डायरी चुप है। लगता है, मैं यादों में ऐसा खो गया कि ओठ फिर बन्द हो गये और लिखना हो नहीं सका। प्रत्येक पंक्ति में कलेजे का रक्त उछल-उछल पड़ता था। रोना आता और लिखा नहीं जाता। फिर ७१ की २३ मार्च आ गयी है—उग्र की चतुर्थ वार्षिकी। न जाने क्यों कलम में एक गुदगुदाहट है, जैसे बेचन ही कह रहे हों—क्यों यार! तुम भी चुप हो? बस, एक चपेट खाकर लिखने बैठ गया हूं।

बेचन उर्फ उग्र से मेरा प्रथम परिचय १९२०-२१ के तूफानी दिनों में, ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म और अनौपचारिकता की नगरी, वाराणसी, में हुआ था। मैं जेल से छूटकर आया ही था और अपने परम सुहृद आज के हड़कम्पी और दूसरी ओर से लिबलिब नेता पं० कमलापति त्रिपाठी के अनुज स्व० पं० कैलासपति से ज़ब्त पुस्तक 'देशेर कथा' की हिन्दी प्रति उठा लाया था। कभी-कभी बेचन से रास्ते में भेंट और दुआ-सलाम हो जाता था। संयोग कि उस दिन भी वह मिल गये और उसे उन्होंने मेरे थैले से उड़ा लिया; फिर लाख सिर पटकने पर भी दिया नहीं। इस कलह में एक प्रकार की रक़ाबत थी क्योंकि उन दिनों बेचन कमला को बहुत चाहते थे और उस परिवार में दूसरे तरुणों का प्रवेश उनके लिए वाञ्छनीय नहीं था। इस तरह कलह के माध्यम से हमारी मैत्री शुरू हुई, जो दुःख-सुख, सम्पदा-विपदा के बीच पनपती हुई उनके जीवन के अन्त तक बनी रही। इसके निरन्तर पुष्ट होते जाने के कारण और अकारण दोनों थे। कारण तो यह कि वह साहित्य में स्व०आचार्य लाला भगवानदीन जी के शिष्य होने से मेरे गुरुभाई थे। लाला जी उस समय काशी में नवीन प्रतिभाओं के लिए कल्पवृक्ष थे और उन्हींके रस एवं मार्गदर्शन ने सीताराम चतुर्वेदी, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब,' विश्वनाथप्रसाद

मिश्र, देवाचार्य, रामप्रसाद पाण्डेय, कान्तानाथ, मोहनवल्लभ पन्त, रघुनन्दन, श्रीकृष्ण शुक्ल, शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, रसराज, श्रीमाली इत्यादि दर्जनों साहित्यिकों का निर्माण किया। बाद में भी हम दोनों ने श्रद्धेय बाबूराव विष्णु पराड़कर 'आज'-सम्पादक से, लेखन एवं सम्पादन-कला की दीक्षा ली थी। इस तरह हम डबल गुरुभाई थे। धीरे-धीरे हम नज़दीक आते गये। अकारण वही जिसका संकेत मैं कमला-कुटुम्ब के सिलसिले में ऊपर कर आया हूं। जो भी हो, एक अटूट मैत्री का आरम्भ हुआ। उस समय वह कबीरचौरा की मुख्य सड़क से निकलकर म्युनिसिपल मिडिल स्कूल के सामने से उत्तर, पिसनहरिया की ओर जाने वाले मार्ग के किनारे एक छोटे से मकान में रहते थे। पास ही दन्तचिकित्सक डा० विश्वकर्मा और उस समय के कई मशहूर बनारसी तबलियों के निवास थे।

भाखे बनै न बनै बिनु भाखे—जिस घटना ने 'उग्र' को नियमित विद्यार्थी जीवन से उठाकर काशी-मण्डल में एकाएक जनप्रिय बना दिया, वह भी अद्भुत है। उन दिनों 'उग्र' हिन्दू सेण्ट्रल स्कूल में पढ़ते थे। स्कूल के प्रधानाध्यायक थे पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के छोटे भाई रायबहादुर गुरुसेवक उपाध्याय। उपाध्याय जी सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करके आये थे और उनमें भारतीय गुरु की गंभीरता की जगह एक नौकरशाह की दमन-दण्ड की भावना ही अधिक थी। असहयोग का ज़माना था और छात्रों में सामूहिक असन्तोष था। उन दिनों क्या, बाद में भी, 'उग्र' लम्बे बाल रखते थे और अपने बालों पर उनमें बड़ा ममत्त्व और मोह था। वह सदा रहा। एक दिन प्रधानाध्यापक की दृष्टि उनके बालों पर पड़ गयी और उन्होंने उन्हें कटवा डालने का आग्रह किया। तकरार हुई और बात बढ़ी। उपाध्याय जी ने अनुशासन न मानने के अभियोग में 'उग्र' को बेंत की सज़ा दी। बस, उसी क्षण इन्होंने स्कूल को सलाम किया और सदा के लिए निकल गये। कुछ ही समय बाद काशी में एक प्रदर्शनी लगी जिसके आयोजक ज़िलाधीश सी० के० देसाई तथा स्व० श्रीप्रकाश जी थे। इस प्रदर्शनी में एक कविसम्मेलन हुआ। लाला भगवानदीन थे उसके कर्त्ता-धर्त्ता। उन्होंने पूर्ति के लिए समस्या दी थी—'भाखे बनै न बनै बिनु भाखे।' यह कवि सम्मेलन आचार्य किशोरीलाल गोस्वामी की अध्यक्षता में हुआ था। वहां गुरुसेवक से खीझे हुए 'उग्र' ने समस्यापूर्ति करके यह कविता पढ़ी :

सेवक छात्र, पिता गुरु है,
कलि में यह नीति गई धरि ताखे।
सेवक को गुरु मानै नहीं,
गुरु को लख सेवक हू मन माखे।
आपु अनीति सदैव करै गुरु,
सेवक बेंतन मारि कै राखे।
हा, गुरु-सेवक की करनी यह,
भाखे बनै न बनै बिनु भाखे।

यह कविता अफवाह की तरह काशी में, विशेषतः छात्रों, युवकों और नवोदित साहित्यकारों में, फैल गई और 'उग्र' लोकप्रिय हो गये। इन्हीं दिनों (१९२१) उन्होंने 'धारणा' शीर्षक एक कहानी लिखी जो 'ध्रुव धारणा' शीर्षक से प्रताप प्रेस कानपुर द्वारा प्रकाशित तथा श्रीकृष्णदत्त पालीवाल द्वारा सम्पादित 'प्रभा' में प्रकाशित हुई। शायद यही उनकी प्रथम प्रकाशित कहानी है। उत्साहित होकर वह 'आज' में लिखने लगे।

एक कवि सम्मेलन— १९२३ ई० (संवत् १९८०) में तुलसीदास की त्रिशती जयन्ती उत्सव का समय आया। काशी नागरी प्रचारणी सभा के तत्त्वावधान में इस उत्सव का आयोजन हुआ। उग्र ने हिन्दी साहित्य विद्यालय तथा लाला भगवानदीन जी के माध्यम से इस अवसर पर संयुक्तप्रान्तीय हिन्दी कवि-सम्मेलन आयोजित करने का प्रस्ताव किया, जो स्वीकृत हो गया। संयोजक का उत्तरदायित्व खुद 'उग्र' ने संभाला। लाला जी तथा आचार्य रामदास गौड़ स्वागताध्यक्ष एवं उपस्वागताध्यक्ष हुए। सम्मेलन के अध्यक्ष या सभापति चुने गये पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', जिनकी व्यंगोक्तियों की उन दिनों बड़ी धाक थी। इस सम्मेलन के लिए 'सी की है' समस्या दी गयी थी— इस आशा से कि लोग 'तुलसी की है' पूर्ति करेंगे। संयोग की बात कि शंकर जी बीमार पड़ गये, यद्यपि उन्होंने समस्या की कई पूर्तियां करके भेज दीं। उनकी अनुपस्थिति में पं०अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' सभापति बनाये गये। शंकर जी ने जो पूर्तियां भेजी थीं उनमें एक मुझे अभी तक याद है, इसलिए कि इसमें प्रकारान्तर से लाला जी तथा 'उग्र' की प्रशंसा थी, तुलसी का अभिनन्दन था और शंकर जी का छीटे-कशीवाला रंग भी चोखा था :

शंकरपुरी में तुक्कड़ों का मान मारने को,
उग्रता हठीली भगवानदीन जी की है।
आदर मिला है कविता को कवि-मंडल में,
डींग राधेश्याम-से कथक्कड़ों की फीकी है।
सुयश पसारे जिसे तीन सौ बरस बीते,
सतमी प्रयाण तिथि सावन सुदी की है।
धर्मवीरो धन्यवाद दीजिए जयंती देखें,
ऐसे बड़भागी रामदास तुलसी की है।।

उस अवसर पर अनेक श्रेष्ठ पूर्तियां बढ़िया फेदरवेट कागज़ केसुन्दर रूमालों पर सजाकर छापी और बांटी गई थीं। उग्र जी का सारा आयोजन अभूतपूर्व था और उस आनबान का कवि सम्मेलन फिर कहीं देखा न गया।

ऐसी ही एक कवि गोष्ठी में उग्र ने अपने काव्यगुरु 'दीन' जी की ओर से काले तख्ते पर खड़िया से यह सोरठा-समस्या लिखी :

'दीन' समस्या दीन,
दीन दीन की अति कठिन।

पुरवहु सकल प्रवीन,
अहै उग्र की प्रार्थना।

मतलब, उग्र तेज़ी के साथ हर जगह छाते जा रहे थे।

(३)

मैत्री के बन्धन—उस ज़माने में ऐसा शायद ही कोई दिन जाता कि हम मिलते न हों। उनकी कबीराचौरा वाली बैठक में खूब बैठकी होती। बेचन नाटे कद के पर सुन्दर, गठीले, दोहरे बदन के व्यक्ति थे; बड़े सुसंस्कृत ढंग से रहते थे। अपने सुनहले बालों पर उनको नाज़ था और उनकी बड़ी सेवा करते थे। बढ़िया साबुनों और पोमेड इत्यादि का उनको शौक था और उनकी डेस्क पर बंगाल केमिकल का छोटा, मर्मर-श्वेत कलेवर 'रोज़' ज़रूर रहता था। शौकीन तबीयत और रंगीन मिज़ाज आदमी थे। एक-से एक दमदार और आकर्षक लुंगी पहनते और भंग-बूटी छानते थे। बाद के दिनों में तो यह भंग उनके सिर पर कुछ यों सवार हुई कि खालिस गोले के गोले पानी के सहारे निगल जाते थे।

उनकी प्रथम पुस्तक--जब हमारी पहले-पहल भेंट हुई तब 'महात्मा ईसा' नाटक लिख रहे थे। इसकी प्रेरणा उन्हें गांधी जी के जीवन और शिक्षण से मिली थी। रोज़ लिखते, मुझे सुनाते और पात्रों के ऐतिहासिक चरित तथा चित्रण के सम्बन्ध में मुझसे गम्भीर चर्चा करते थे। हिन्दी में सबसे पहले उन्होंने यह स्थापना की थी कि ईसा भारत आए थे और यहां के योगियों-यतियों से बहुतेरी बातें उन्होंने सीखी थीं। 'महात्मा ईसा' अपने वस्तुविन्यास, चरित्र-चित्रण, अभिनेयता तथा कल्पना सब दृष्टियों से हिन्दी का एक श्रेष्ठ नाटक है। यह १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ था--करीब-करीब 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' के साथ-साथ। ऐसे श्रेष्ठ सात्त्विक नाटक को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में निश्चित रूप से स्थान मिलना चाहिए था, किन्तु हमारे साहित्य की धांधली में वह न जाने कहां पड़ा रह गया है—यहां तक कि हमारे नाटक-समीक्षकों ने भी उसके प्रति प्रायः उपेक्षा ही बरती है।

बहरहाल, यों हमारी मैत्री प्रगाढ़ होती गयी। क्यों तो मैं नहीं जानता, पर तथ्य है कि वह मेरी राय की बड़ी कद्र करते थे। मैं उम्र में उनसे कुछ छोटा ही था किन्तु मेरे प्रति उनका आदर-भाव सदा बना रहा। जब भी उनको हमारे बौद्धिक समर्थन की आवश्यकता प्रतीत होती थी, वह मुझे निस्संकोच याद करते थे।

पराड़कर जी का समर्थन-प्रोत्साहन—इसी बीच पराड़कर जी ('आज' के प्रधान सम्पादक) का आश्रय हम दोनों को मिल गया था और दोनों की ही रचनाएं 'आज' में छपने लगी थीं। 'आज' में आई समालोचनार्थ पुस्तकों की समीक्षा प्रायः मैं 'शेखर' नाम से करने लगा था और उग्र प्रत्येक शनिवार के अंक में 'ऊटपटांग' शीर्षक और अष्टावक्र के छद्मनाम से व्यंग-विनोद-युक्त टिप्पणियां लिखने लगे।

कई रचनाएं तो हमारे संयुक्त नाम से भी निकलीं। पराड़कर जी हम दोनों को बहुत चाहते थे और सदा उत्साहित करते रहते थे। उग्र बाद में क्रान्तिकारी कहानियां भी उसमें लिखने लगे और मैं तो आगे चलकर सम्पादकीय विभाग में ही ले लिया गया। 'उग्र' का सम्बन्ध 'आज' से घनिष्ट होता गया। इस सम्बन्ध को बनाने में पराड़कर जी की कृपा तो थी ही, 'उग्र' को इसलिए भी सहूलियत हुई कि उनके दूर के एक गुरुजन पं० छविनाथ पाण्डेय, बहुत समय तक ज्ञानमण्डल यन्त्रालय के व्यवस्थापक थे। साहित्य-निर्माण के कार्य में उन्होंने बेचन को सदैव उत्साहित किया। वह स्वयं सुलेखक तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। बाद में वह बिहार चले गये और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे।

(४)

अक्सर मैं तीसरे पहर बेचन के निवास स्थान पर पहुंच जाता। वह उठकर भंग घोंटते और छानते थे। मुझे जलेबा-जलेबी, खस्ता या छोटी कचौड़ी का नाश्ता कराते। फिर साहित्य-चर्चा छिड़ जाती। इतनी घनिष्टता होने के बावजूद मेरी वृत्तियां उनसे सर्वथा भिन्न थीं। मैं भंग, सिगरेट, बीड़ी, चाय, मांस-मदिरा, यहां तक कि लहसुन-प्याज़ से भी दूर रहनेवाला और वह छैल-छबीले, रंगीं तबीयत, यम-नियम को ललकारते चलने वाले युवक थे। फिर भी दोनों-दोनों की गहरी इज़्ज़त करते थे और इस बिना पर कभी एक दूसरे की आलोचना नहीं करते थे।

उनके एक अग्रज थे, उमाचरण पाण्डेय। उनके हाथ में एक विचित्र छड़ी रहती थी जिसमें तीन शाखाएं थीं और ऊपर मुठिया के पास मिल गयी थीं। इसीलिए उन्होंने अपना उपनाम रखा था 'त्रिदण्डी'। किसी समय यह बेचन के साथ रामलीला मण्डली में काम करते थे। बाद में यह भी लिखने लगे थे और समय-समय पर कई पत्र-पत्रिकाओं के साथ उनका सम्बन्ध रहा। वह भी कहीं जम न सके। कबीरचौरा के मकान पर अक्सर उनसे भी मुलाकात हो जाती थी। इसके पहले जब ज्ञानमण्डल प्रेस, दुर्गाकुण्ड के पास, गुरुधाम में था, तब उसके व्यवस्थापक पं० छविनाथ पाण्डेय ने उमाचरण जी को वहां प्रूफरीडर रखवा दिया था। सच पूछिए तो उसी सिलसिले में वह आकर भदैनी में रहने लगे थे। तभी बेचन भी आ गए और स्व० बा० शिवप्रसाद गुप्त की सहायता पाकर स्कूल में पढ़ने लगे थे। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि स्कूल उन्होंने कैसे छोड़ा और साहित्य के क्षेत्र में कैसे आ गए। कुछ दिनों बाद ज्ञानमण्डल अपने कबीरचौरा के विशाल भवन में आ गया। तब उमाचरण जी कबीरचौरा में आकर रहने लगे। ज्ञानमण्डल से सम्बन्ध छूट जाने पर वह चुनार चले गए और उग्र तथा उनके भतीजे वल्लभाशरण, जिनका सम्बन्ध ज्ञानमण्डल प्रेस कम्पोज़िंग विभाग से था, वहां रहने लगे।

हां, तो मैं कह रहा था कि तीसरे पहर अक्सर मैं उनके इस मकान पर पहुंच जाता। समय-समय पर वहां बड़े नामी-गरामी साहित्यकारों के दर्शन हो जाते थे।

हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की तो मुझे खूब याद है, जिन्होंने, जब तक वहां रहे, हमें हंसाते रखा. उन की व्यंगोक्तियों से वह घर देर तक गूंजता रहा।

उस ज़माने में एक और साथी अक्सर वहां आ जाया करते। उनका नाम था चन्द्रशेखर पाण्डेय। काशी विश्वविद्यालय से उन्होंने संस्कृत में एम० ए० किया था। बड़े मस्त, सहृदय व्यक्ति थे। स्नातक तो संस्कृत के थे किन्तु हिन्दी साहित्य में भी उनकी अच्छी पैठ थी। बाद में वह कानपुर चले गए और वहां सनातन धर्म कालेज में प्राध्यापक हो गए। वहां भी उन्होंने खूब नाम कमाया। बड़ी धाक थी उनकी। अध्यापक तो बहुत ही अच्छे थे और बड़ी प्रतिभा थी उनमें। उनके पढ़ाए हुए कई शिष्यों ने भी नाम कमाया। बड़े मौजी तबीयत के थे। जहां तक मैं जानता हूं, वह दिवंगत हो चुके हैं और अन्त तक निस्सन्तान रहे।

शाम की मटरगश्ती—जब शाम हो जाती, हम दोनों निकलते और मैदागिन, बुलानाला, चौक होते तथा बीच में लोगों से मिलते-मिलाते, विश्वेश्वर-दर्शन को जाते। कभी लम्बा चक्कर मार दशाश्वमेध घाट चले जाते और वहां नाव पर या घाट पर बैठकर गंगा का दर्शन करते, बातें करते। तब लौटते समय विश्वेश्वर दर्शन को जाते थे। वैसे स्वस्थ अवस्था में विश्वेश्वर-दर्शन हमारा नित्य-नियम था। उस ज़माने में आस्तिकता का जो दीप बेचन के अन्तर में जला वह नियम-बन्धन हीन और अनौपचारिकता से पूर्ण उनके जीवन की हर एक अवस्था में, अन्त तक जलता रहा।

हां, तो हम अक्सर विश्वेश्वर-दर्शन करके, चौक से अलग-अलग रास्तों पर जाने की जगह, बातों में डूबे हुए फिर कबीरचौरा पहुंच जाते। फिर वह मिडिल स्कूल तक या और आगे तक मुझे पहुंचाने आते। अक्सर मैं काफी रात गए घर लौटता था। उन दिनों मुझ पर भी काव्य और साहित्य का एक नशा छाया हुआ था। सुबह और दोपहर मैं काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में पुस्तकालयाध्यक्ष स्व० पं० केदारनाथ पाठक के सानिध्य में, बुलानाला में मदनमोहन गुप्त के मनमोहन पुस्तकालय (किताबों की दुकान), भरतदास न्यूज़ एजेण्ट की दुकान, कार्माइकल लाइब्रेरी इत्यादि में बिताता था।

हां, तो हमारे इस लम्बे रास्ते में तीन-चार पड़ाव भी थे। राह में शर्बत की दो दूकानें पड़ती थीं। एक थी चौक से राजा दरवाज़ा जाने वाली गली के नुक्कड़ पर रामप्रसाद की, जो अब भी है। दूसरी थी चौक और ज्ञानवापी के बीच, स्व० काली बाबू के होमियोपैथिक दवाखाने के पास सर्यूप्रसाद की, जो शायद अब नहीं है। रामप्रसाद अब अशक्त और वृद्ध हो गए हैं, यद्यपि अब भी शाम को दुकान पर बैठते हैं। कभी वाराणसी जाता हूं तो वहां अवश्य जाता हूं और रामप्रसाद भी उसी स्नेह से मिलते हैं। यहां हम कभी मलाई का, कभी फालसे का, कभी बादाम या कसेरू का, मतलब ऋतु के अनुकूल शर्बत बनवाते और पीते। रामप्रसाद बड़े प्रेम से बनाते थे। अब तो बादाम और मलाई के शर्बत सपना

हैं। सरजू की दुकान तो है किन्तु सरजू नहीं हैं, न पहले वाली दुकान की रौनक ही है। कभी-कदाच इन दुकानों के पास से गुज़रता हूं तो क्षणभर के लिए पुराने दिन याद आ जाते हैं। इन दुकानों की न जाने कितनी सोई स्मृतियां आज भी जीवन के साथ लगी हैं।

मनमोहन पुस्तकालय तो भरी जवानी में ही उठ गया था और भरतदास न्यूज़ एजेण्ट की दुकान की जगह बनारसी साड़ियों का व्यापार करनेवाली बड़ी-बड़ी कोठियों ने ले ली है। जैसे इस समाजवादी नारों के युग में साधनहीन दुकानदारों के अस्तित्व को चुनौती देता पुंजीवाद का पूंजीभूत अट्टहास हो। कभी हम मालती शारदासदन की छत पर चले जाते, जहां कभी दीन जी का साहित्य विद्यालय लगता था और जो बाद में कालिया साहब की वीरान कोठी के निचले हिस्से में, नीची बाग, चला गया था। कभी हम कार्माइकल लाइब्रेरी में जाकर पत्र-पत्रिकाओं पर नज़र डाल लेते या बांस फाटक की गली में, मदन थियेटर के पीछे, हिन्दी केसरी के सुज्ञ सम्पादक बा० गंगाप्रसाद गुप्त के सत्संग का लाभ लेते। कभी दशाश्वमेध होते हुए मानमन्दिर की तरफ से लौटते तो दोनों के दोस्त स्व० विनोद शंकर व्यास से कुछ देर गप-शप हो जाती। वापसी में यदि कबीरचौरा तक जाना होता तो बीच में कबीरचौरा सड़क की उत्तर पटरी पर प्रसिद्ध हलवाई की दुकान पर ठहरकर कुछ न कुछ ज़रूर लेते। मुझे उस दुकान की सोहन पपड़ी खास तौर पर पसन्द थी। मैंने वाराणसी के बाहर वैसी सोहन पपड़ी और कहीं नहीं देखी, न खाई।

(५)

'भूत'-मण्डली—बा० कृष्णदेव प्रसाद गौड़ उर्फ 'बेढब' बनारसी दयानन्द हाई स्कूल (वाराणसी) में पढ़ाते थे। हमारे घर से थोड़ी ही दूर पर, बड़ी पियरी, में रहते थे और हमारे छोटे भाई, श्यामलाल जी के अध्यापक भी थे। उन्हें भी इन्हीं दिनों लिखने का शौक हुआ। वह भी 'दीन' जी की उपज थे। पढ़ने का शौक तो उन्हें बहुत था—यहां तक कि जो पुस्तक ले जाते, लौटाने का नाम न लेते। हमारे निजी पुस्तकालय से भी, छोटे भाई द्वारा, पुस्तकें लेते रहते थे। उन्हें 'अकबर' इलाहाबादी के तर्ज़ पर व्यंगोक्तियां और शेर लिखने का शौक था और आगे चलकर तो उन्होंने इसमें काफी नाम कमाया। अनायास हमारा साथ हो गया। उनके एक और सहपाठी तथा मित्र थे—अन्नपूर्णानन्द, सम्पूर्णानन्द जी के छोटे भाई। बहुत ही अच्छा व्यंग लिखा करते थे; 'निखट्टू' उपनाम था। ज्योतिष और हस्तरेखा विज्ञान में भी उनका अच्छा दखल था। उग्र, बेढब, निखट्टू और मेरी चाण्डाल चौकड़ी ने मिलकर, बालचन्द जी नामक एक सहृदय सज्जन की सहायता से 'भूत' नामक साप्ताहिक निकाला। शायद यह १९२४ ई० की बात है। इसके पहले 'मतवाला' के जवाब में 'मौजी' निकल रहा था, जिसके सम्पादक थे महादेव सिंह शर्मा। इसके पीछे उस ज़माने के ख्यातिप्राप्त सम्पादक तथा पारसी थियेटर के

लेखक बा० हरेकृष्ण 'जौहर' और उनके छोटे भाई श्रीकृष्ण 'हसरत' का भी छिपा हाथ था। 'भूत' इसे खूब आड़े हाथों लेता था। 'उग्र' तो 'मौजी' से पहले से ही चिढ़े हुए थे और उसे छेड़ने या डाउन करने का कोई मौका छोड़ते न थे। 'आज' में वह 'अष्टावक्र' के नाम से जो 'ऊटपटांग' लिखते थे उसमें एक बार लिखा था: "मौजी" के मुखपृष्ठ पर कुरसी पर बैठे हुए एक विकटानन उलूकनेत्र व्यक्ति का चित्र प्रत्येक अंक में प्रकाशित होता है और उसके नीचे लिखा रहता है – संपादक महादेवसिंह शर्मा।" इसी प्रकार 'भूत' की टिप्पणियों में एक बार निकला—"काशी से एक अखबार निकलता है, जिसे कोई खरीदता नहीं। उसकी कुछ प्रतियां खानसामा लोग साहबों की मेज़ साफ करने के काम में लाते हैं, और कुछ 'शेव' करने में सहायक होती हैं।" एक बार 'मौजी' ने चिढ़कर लिखा—"यदि 'भूत' की शिरोरेखा कम्पोज़ीटरों की भूल से मिल जाय तो वह क्या बनेगा?" (मूत)। इसपर 'उग्र' ने 'भूत' में जवाब दिया—"यदि प्रेस के भूत 'मौजी' के 'म' में शिरोरेखा मिलाना भूल जायें तो वह क्या बन जाएगा?" (भौजी)। 'भूत' में उग्र, बेढब, निखट्टू के अलावा हास्यरस के आचार्य जी० पी० श्रीवास्तव भी लिखा करते थे। वह आनबान के साथ निकला, परन्तु अर्थकष्ट के कारण कुछ दिन चलकर बन्द हो गया।

'भूत' का कार्यालय बुलानाला के आगे, मैदागिन के पहले, एक दुकान में था। वहां अक्सर शाम को घूमते-फिरते हम लोग आ जाया करते थे और कुछ देर की बैठक हो जाती थी। जवानी का आलम, एक नशा हम सब पर छाया हुआ था। घर-द्वार की फिक्र नहीं थी या थी तो बस नाम को थी। एक मित्र ने नई कार खरीदी थी। जाड़ों के दिन थे; कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। रात आठ बजे एकाएक, सम्बद्ध चर्चा के बीच, हम लोगों के मन में आया कि जौनपुर की इमरती खाई जाय। कहा गया कि कार से तीन घण्टे में तो हम लोग जाकर लौट आयेंगे। बस चल पड़े। हम लोगों ने रास्ते में खाने के लिए नमकीन सेव, दालमोंठ, पकौड़ी, समोसे वगैरा ले लिए और चल पड़े इमरती खाने। कार के स्वामी, मेरा छोटा भाई श्यामलाल तथा बेढब आगे बैठे थे और हम लोग पीछे। शिवपुर के पास कार सपाटे से चली जा रही थी। बेढब ने स्टीयरिंग हाथ में ले ली। उधर नमकीन वाला बड़ा दोना हम लोगों के पास था पीछे। बेढब जी तथा और लोग उसमें से बीच-बीच में लेते जा रहे थे। एक जगह दोनों ओर बड़े-बड़े पेड़ों की कतार के बीच राह कुछ मुड़ी थी। बेढब ने पीछे मुड़कर दोने पर हाथ मारा, उधर कार सरसराती हुई मार्गभ्रष्ट हुई। घबड़ाहट में बेढब का पांव एक्सेलरेटर पर पड़ा और ज़बर्दस्त धमाके के साथ कार एक पेड़ से टकराई। इसके बाद घुप्प अन्धकार और मौन। पांच मिनट तक तो जैसे किसी को होश ही नहीं था। फिर चुटीले और सुरक्षित सबने हिम्मत की। दूर एक खेत पर दिया जलता देख वहां गए और सहायता मांगी तो उन लोगों ने इन्कार कर दिया, क्योंकि कुछ समय पूर्व उसी के आसपास क्रान्तिकारियों ने डाका डाला था। एक तो हम लोग दर्द, हानि और

कष्ट से पीड़ित थे ही, इसका भी भय था कि पुलिस को मालूम हुआ तो वह सबको क्रान्तिकारी डकैत समझ गिरफ्तार कर लेगी, कोई इस बात पर विश्वास न करेगा कि ऐसी कड़ाके की सर्दी में, रात के समय, ये नवयुवक इतनी दूर इमरती खाने जा रहे थे। सब लोग मिलकर गाड़ी को कैण्ट तक लाए और उस समय के मोटरों के बड़े व्यवसायी इकरामहुसैन ऐण्ड संज़ के यहां छोड़ा। फिर किसी तरह रात ११ बजे घर लौटे। मेरे भाई श्यामलाल की एक आंख के ऊपर भौंह कट गयी थी परन्तु मां के डर से किसी ने कुछ न कहा, खाया भी नहीं और ओढ़ कर सो गए। सुबह बेढब जी के यहां से आदमी आया कि उनकी हालत खराब है। उन्हें स्टीयरिंग ह्वील से फेफड़ों में काफी चोट पहुंची थी। महीनों तक दवा-दारू करने के बाद वह अच्छे हुए, फिर भी वर्षों तक उन्हें सर्दियों में बड़े एहतियात से रहना पड़ता था। इस तरह 'भूत'-क्लब का यह एडवेंचर हम सबको बहुत मंहगा पड़ा।

'स्वदेश' का विजयांक—बीच में मैं कलकत्ता चला गया। वहां से आया तो कुछ और कामों में लग गया। 'उग्र' से मिलना तो होता था किन्तु वैसी गहरी छनने का अब अवकाश न था। उनकी मण्डली में विनोदशंकर व्यास, दुर्गादत्त त्रिपाठी, जगन्नाथ शर्मा इत्यादि शामिल हो गये थे। विनोद से उनकी गहरी छनने लगी और यहीं से उनको बोतल का चस्का भी लग गया। परन्तु उस समय वह कसम तोड़ने भर के लिए था और गाहे-बगाहे था। इन्हीं दिनों (१९२४ ई०) 'स्वदेश' के विजयांक के सम्पादन का भार उन्होंने ले लिया। 'स्वदेश' हिन्दी के राष्ट्रीय पत्रों में प्रमुख स्थान रखता था। इसके सम्पादक और प्रकाशक थे स्व० दशरथप्रसाद द्विवेदी। इसका 'मोटो' मेरी ज़बान पर चढ़ा हुआ है :

जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रस-धार नहीं,
वह हृदय नहीं है, पत्थर है, जिसमें 'स्वदेश' का प्यार नहीं।

प्रताप, कर्मवीर, स्वदेश और बाद में सैनिक सब गणेश जी (स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी) की प्रेरणा-भूमि की उपज थे और अपने-अपने क्षेत्र में इन्होंने बड़ा काम किया। आगे चलकर मेरा भी 'स्वदेश' के सम्पादन में कुछ दिन योग रहा। मैंने उसके होलिकांक का सम्पादन किया था और मेरी कई रचनाएं उसमें निकली थीं।

हां, तो 'स्वदेश' के विजयांक का सम्पादन उग्र ने किया। इसमें दो रचनाएं ऐसी थीं, जो काफी जोशीली थीं। इनमें एक तो था उग्र-लिखित एक एकांकी 'लाल क्रान्ति के पंजे में' और दूसरी थी कविता, अनूप शर्मा की, जो उन दिनों नवीन 'भूषण' कहे जाते थे। अनूप जी की कविता में कई छन्द थे, जिसमें से एक मुझे याद है :

शान्ति की विभावरी में क्रान्ति के उठे हैं मेघ,
भ्रान्ति की बनी है वायु, शान्ति सरसावे है।

गौरव गँभीर जन्मजात वीर गांधी जी का,
गोरी गौरमेंट पै गजब गाज ढावे है।
मेरे जान अन्त होगा देश में कुशासन का,
ज्यौतिषी 'अनूप' रेखा खैंचि के बतावे है।
भूधर भविष्य से भगीरथ से भारत पै,
भागीरथी शोणित की उमगति आवे है।

इस विशेषांक को लेकर 'उग्र' के नाम गिरफ्तारी का वारण्ट निकला। पता लगते ही वह बम्बई चले गये। बम्बई में कमलापति के एक मामा, भगवतीप्रसाद मिश्र रहते थे। साढ़े छः फुटा खूबसूरत जवान थे। उन दिनों उनकी फिल्म जगत् में अच्छी प्रतिष्ठा थी। वह डाइरेक्टर थे तथा किसी फिल्म तारिका के गलती करने पर बेंतों से उसकी खबर लेते थे। 'उग्र' उनके पास रहे। वह उन्हें ५०० रुपया मासिक संवाद आदि लिखने का दिलवा देते थे और मज़े में काम चल रहा था। किन्तु कुछ समय बाद वाराणसी के एक खुफिया इन्सपेक्टर ने उन्हें वहां जा पकड़ा। मुकदमा चला और उग्र को दो साल की सज़ा हुई। किन्तु अवधि के पहले ही छूट गये।

(६)

'मतवाला'-प्रकरण— कलकत्ता के 'मतवाला' की उन दिनों बड़ी धूम थी। उसमें 'उग्र' की रचनाएं छपती रहती थीं। उसके संचालक महादेवप्रसाद सेठ मिर्ज़ापुर के रहनेवाले थे। धनवान परन्तु उदार और साहित्य के पारखी थे। मैंने तो जीवन में ऐसे सहृदय व्यक्ति बहुत कम देखे हैं। उनमें धन का ज़रा भी अभिमान न था और स्वयंसेवा करने में कभी कुण्ठित न होते थे। उन्होंने उग्र को कलकत्ता बुलवा लिया और बड़े आदर तथा स्नेह से रखा। अब 'मतवाला'-मण्डल में नवजादिकलाल श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय, निराला और उग्र की चौकड़ी एकत्र हो गयी। नवजादिकलाल कुछ ठस प्रकृति के आदमी थे, शिवपूजन गौ थे, निराला मनमौजी और उग्र अक्खड़। महादेव की बरात जैसा दृश्य था। उग्र और निराला की भी चोंच चलती थी। उग्र के 'चन्द हसीनों के खुतूत' के कारण 'मतवाला' की मांग खूब बढ़ गयी थी। जब पुस्तक निकली तो उसके आर्डर में आये तारों के ढेर लग गये। एक तो मिर्ज़ापुरी, दूसरे प्रतिभाशाली 'उग्र' को महादेव बाबू बहुत चाहते थे और उनकी न जाने कितनी फर्माइशें पूरी करते रहते थे। उग्र और निराला की प्रतिभा को लेकर हिन्दी में प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं किन्तु किसी समीक्षक ने 'निराला' के निर्माण में मतवाला और महादेव बाबू के महत् योग और त्याग पर प्रकाश नहीं डाला है। उग्र तो प्रतिष्ठित होने के बाद कलकत्ता और मतवाला में आये किन्तु 'मतवाला' में छपने के पूर्व तो निराला को कोई जानता भी न था। वह तो महादेव बाबू की ही सृष्टि या कम से कम शोध थे।

'उग्र' इतने अक्खड़ और अपने मान के प्रति इतने सजग थे कि प्रिय से प्रिय की बात भी बर्दाश्त नहीं करते थे। महादेवप्रसाद सेठ जैसे नवनीत-हृदय और अपने सम्मानकर्त्ता से भी चिढ़कर बीच में चुनार जा बैठे और जब महादेव बाबू ने मुंशी नवजादिकलाल जैसे 'मतवाला'-मण्डल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को उन्हें मना लाने चुनार भेजा, तभी, मुश्किल से बड़े मान-मनौअल के बाद, लौटे। इसी प्रकार पराड़कर जी को भी, जो उनको उजागर करने वाले और गुरु थे, समय आने पर उन्होंने नहीं बख्शा। समझाने पर कहते कि पत्रकारिता का सिंह पराड़कर मर गया, अब तो एक दुर्बल, दमित सम्पादक जीवित है जिसको दुहा जा रहा है और जो लोगों के नाजायज़ दबाव और शोषण को बर्दाश्त कर रहा है।

'निराला' की शेखी का उत्तर—उग्र अपने सामने किसी की शेखी चलने नहीं देते और झूठी डींगों का प्रतिवाद किये बिना रह नहीं सकते थे। १९२४ के आसपास की ही बात है। गर्मियों के दिन थे। गोविन्दपुरा के नुक्कड़ पर रामप्रसाद की शर्बत की जिस दुकान का जिक्र मैंने कहीं ऊपर किया, वहीं एक दिन शाम को प्रसाद, निराला, उग्र, विनोद सब, संयोगवश, एकत्र हो गये। मैं तो था ही। निराला का मुक्तवृत्त काव्य उन दिनों बड़ी चर्चा का विषय था। कोई उसे क्रान्तिकारी पग कहता, कोई रबड़ या केंचुआ छन्द कहकर उसका उपहास करता। परन्तु कवि को इससे जो लोकप्रियता मिली उससे वह गर्वित था। उस दिन भी चर्चा छिड़ी तो निराला स्वभाव-वश बोल उठे : "यह नाल मेरे सिवा कौन पहलवान उठा सकता है?" प्रसाद जी तो व्यंग-भरी मुस्कान बिखेरकर रह गये और जैसा कि उनका स्वभाव था, वह ऐसी चुनौतियां मौन भाव से ग्रहण करते थे (उन्होंने इस चुनौती का उत्तर बाद में दिया 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' जैसी अप्रतिम सौन्दर्यशाली रचनाओं के द्वारा और इस क्षेत्र में भी निराला को पीछे छोड़ गये।) किन्तु उग्र तो निराला से भी सवाये थे। प्रगाढ़ मित्रता होते हुए भी वह इस शेखी को सहन नहीं कर सके, और बोले—"यदि मैं लघु शंका कर दूं तो उसकी धार से मुक्त छन्द बन जायगा।" और उसी समय कागज़-पेंसिल लेकर देखते-देखते मुक्त छन्द में 'स्वर्णमृग' कविता लिखकर प्रस्तुत कर दी। निराला अप्रतिभ होकर रह गये।

(७)

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ—एक तरह का अक्खड़पन और बेलौस अभय उनमें सदा से था। जिससे कृतार्थ होते, नागवार या असत्य बात होने पर, उसे भी बर्दाश्त नहीं करते थे। उन्होंने शिवप्रसाद गुप्त, पराड़कर जी, बैजनाथ केडिया, महादेवप्रसाद सेठ और सम्पूर्णानन्द किसी को भी नहीं छोड़ा, यद्यपि ये सब उनके कसाले के दिनों के सहायक थे। अपने परम सुहृद और बाल्य मित्र कमलापति को भी नहीं बख्शा। वह कबीर की आत्मोक्ति की याद दिलाते थे :

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।

यह अकड़ उनमें दोष की सीमा तक पहुंच गयी थी। जहां बात उचित होती तहां भी वह अकड़ते थे और प्रहार में दो-एक फिकरे कसने से बाज़ नहीं आते थे। एक बार की बात है कि हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी के संचालक स्व० बैजनाथ केडिया ने, जो सरल और मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे, उग्र जी से कोई पुस्तक लिखकर देने का अनुरोध किया। उग्र ने भंग-बूटी इत्यादि के लिए दो सौ पेशगी लिए। महीने-दो-महीने बीत गए। एक दिन, जब हम दोनों विश्वनाथ-दर्शन के लिए जा रहे थे, ज्ञानवापी की अपनी दुकान पर बैठे हुए केडिया जी ने उनसे पुस्तक का तकाज़ा किया। उग्र न जाने किस 'मूड' में थे, उबल पड़े—"अरे बनिये, दो सौ रुपये में क्या तूने मुझे खरीद लिया है ? कुछ और निकाल, भंग-बूटी छने, स्फूर्ति आए तब तो लिखूं।" केडिया जी हाथ जोड़कर चुप रह गए। मुझे बहुत बुरा लगा और जब हम ज़रा आगे बढ़े, मैंने उनके इस अनुचित रवैये का विरोध किया तो बोले—"अरे भैया सुमन ! ये बनिये न जाने कितने लोगों का खून चूस-चूसकर मोटे हुए हैं। इसलिए उग्र उनसे इसी भाषा में निपटता है।" कुछ ऐसी ही बात हुई जब वह पिछले कैंडे बम्बई से वाराणसी लौट आये थे। कुछ पहले मैं सपत्नीक बम्बई गया था और मालाबार हिल पर अफगान दूतावास के बगल में दाणी भवन में ठहरा था। यह एक संभ्रान्त मारवाड़ी परिवार था और मेरा अजमेर से ही परिचय था। बम्बई-प्रवास के समय उग्र की प्रतिभा से चमत्कृत होकर और उनको कष्ट में देख उन लोगों ने इन्हें अपने विशाल भवन के बाहर का एक कमरा दे दिया था। वे लोग और तरह से भी इनकी सहायता करते रहते थे; जब-तब पैसे भी उधार दे देते थे, यहां तक कि कई हज़ार हो गए। उन लोगों ने कभी कुछ नहीं कहा। किन्तु दाणी भवन के सामने ही एक फल और सब्ज़ी की दुकान थी। उसका मालिक उत्तर प्रदेश का ही था; वह उग्र का मुरीद हो गया था और उन्हें उधार देता रहा—कई हज़ार बकाया हो गए। जब बातचीत में मुझे पता चला कि उग्र वर्षों वहां रहे और उन्हें यह कि उग्र से मेरी घनिष्टता है तब उन्होंने बड़े शान्त भाव से मेरे द्वारा कहलवाया कि सुविधा के अनुसार थोड़ा-थोड़ा करके चुका दें। जब वाराणसी में मैंने यह बात उग्र से कही तो उन्होंने छूटते ही कहा : "यार सुमन ! तुमसे यदि फिर उन वणिकराज की भेंट हो तो कहना कि मेरे समय में वहां एक सब्ज़ी की दुकान थी। यदि अब भी वह दुकान हो तो उग्र के नाम पर उससे नीबू खरीद लें और नमक लगाकर चाटा करें।" मुझे उग्र का यह ढंग बिलकुल पसन्द नहीं था परन्तु वह समाज एवं परिवार की ओर से बड़े मर्माहत थे और अन्दर की टीस ऐसे ही ऊटपटांग वचनों के रूप में निकलती थी।

ममता और निर्ममता के समन्वय—उग्र का चरित्र अद्भुत था; कब क्या करेंगे और क्या रुख अपनायेंगे, यह कहना कठिन था। मित्रों के प्रति निजत्व और ममत्व की उनमें कमी न थी; दूसरों के कष्ट-दुःख के प्रति सहानुभूति की गहरी संवेदना से पूर्ण थे किन्तु कभी-कभी अपनी आवश्यकताओं के प्रति इतने आग्रही

हो उठते थे कि दूसरे की कठिनाई पर विचार करना उनके लिए मुश्किल हो जाता था। इस सम्बन्ध में एक विशेष घटना मुझे याद आ रही है। काशी की बात है; उन दिनों शिव जी (शिवपूजन सहाय) भी वाराणसी में रह रहे थे। उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी न थी। रात-दिन खटते थे और किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी चला रहे थे। उनकी द्वितीय पत्नी बहुत बीमार थीं। यहां तक कि एक दिन रात में, जब शिव जी घर में अकेले ही थे, उनका देहान्त हो गया। कई दिनों से उग्र उधर नहीं गए थे और उनको शिव जी अथवा उनकी पत्नी की स्थिति का कुछ पता न था। वह उसी रात जुए में सबकुछ हार गए और उनको पैसे की सख्त ज़रूरत हुई। कहां, किसके पास जायं, किससे मांगें। बस धड़धड़ाते हुए शिवपूजन के घर पहुंच गए; ऊपर गए तो देखा कि शिव-पत्नी का शव पड़ा हुआ है; पास शिवपूजन अकेले बैठे थे। देखकर स्तब्ध रह गए। शिव जी के पूछने पर बताया कि 'जुए में सब हारकर आ रहा हूं। कुछ पैसों की ज़रूरत थी परन्तु यहां तो यह हाल है।' शिव जी ने पूछा कि 'कितने की ज़रूरत है?' बताया—'पचास रुपये।' शिव जी ने कहा—'मेरे पास कुल पचास ही हैं, पर तुम ले जाओ। सुबह शवयात्रा की कुछ-न-कुछ व्यवस्था हो ही जाएगी।' उग्र पचास लेकर चले गए। यह घटना दोनों मित्रों के चरित्र को उद्घाटित कर देती है। एक का ऐसी विकट स्थिति में लेना और दूसरे का देना, दोनों में एक ही देव के 'उग्र' और 'शिव' रूप का प्रत्यक्षीकरण है। इससे मालूम होता है कि मित्रों के प्रति अत्यन्त ममत्त्व वाले उग्र कभी-कभी कितने निर्मम हो सकते थे।

(८)

क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्पर्क

उग्र 'आज' में बहुत पहले से क्रान्तिकारी कहानियां लिख रहे थे। हमारी भेंट होती रहती थी; मित्रता भी खूब थी किन्तु सिद्धान्त में हम दोनों में कोसों का अन्तर था। मैं था गांधीबाबा का शिष्य; शिष्य तो गांधीबाबा का वह भी अपने को कहते थे और बड़ी श्रद्धा रखते थे परन्तु उनके सिद्धान्तों में वैसी निष्ठा न थी। एक प्रकार से ऐसे लोग गांधी के बेशुमार राजनीतिक शिष्यों में थे, जिनका अहिंसा में कोई तात्विक विश्वास न था। स्वभाव से तो वह उग्र थे ही; लिखते भी वैसा ही थे; धीरे-धीरे वह षड्यन्त्रकारियों के सम्पर्क में आए। सम्पर्क में तो मैं भी था किन्तु सम्पर्क में रहते हुए तथा अनेक का अत्यन्त विश्वासपात्र एवं सहायक होते हुए भी मैं उन्हें सदा समझाता रहता था कि हिंसक षड्यन्त्र का आन्दोलन न उचित है, न वह भारतीयों की प्रकृति तथा संस्कृति-परम्परा के अनुरूप ही है; इससे तो खुले युद्ध की नीति ज़्यादा अच्छी है। बेचन बुद्धि-विवेक से मेरी बातों के कायल थे परन्तु स्वभाव से विवश होने के कारण वह दूसरी ओर खिंचते गए। बहुत कम लोग जानते हैं कि क्रान्तिकारियों के एक डकैत-दल का

नेतृत्व भी उन्होंने किया था किन्तु ठीक समय पर डरकर दल को लौटा लाने के कारण उनपर अनुशासनहीनता का आरोप भी लगाया गया था। कुछ सदस्य तो उन्हें गोली मार देने के पक्ष में थे। मुझे मालूम हुआ तो मैंने बड़ी मुश्किलों से, समझा-बुझाकर उस मामले को शान्त किया और उनकी रक्षा की। तब से दल के नेतृत्व ने निश्चय किया कि आगे किसी साहित्यिक को ऐसे कामों में अगुआ न बनाया जाए। बेचन उसी दिन दल से अलग हो गए, या कर दिये गये।

(९)

'चाकलेट'-प्रकरण

गंभीर 'आज' के बाद हंसोड़ 'मतवाला' उनकी रचनाओं के प्रकाशन का प्रधान साधन था। उसमें उनकी न जाने कितनी कृतियां धारावाहिक रूप से निकलीं। एक ज़माना था 'मतवाला' का और उग्र की इन रचनाओं का। इन्हीं दिनों समलिंगी व्यभिचार की ओर उनका ध्यान गया। 'उग्र' के सम्बन्ध में लोगों में बड़ी गलतफहमी है कि वह वासनाओं के प्रेरक वा प्रचारक थे। वस्तुत: वह थे सौन्दर्य-प्रेमी, सौन्दर्य-पारखी। उनके रहन-सहन, पहनने-ओढ़ने, प्रत्येक बात में चारुता रहती थी। किसी स्त्री, बालक अथवा पुरुष में सौन्दर्य देख वह आकर्षित होते थे किन्तु कभी वासना या भोग की भावना से नहीं। प्राय: कहा करते थे कि सौन्दर्य तो वासना के साथ जी ही नहीं सकता; उसकी रक्षा एवं संस्कार के लिए पवित्रता आवश्यक है। उनके लिए सौन्दर्य में ईश्वरत्व का अंश होता था। इस सम्बन्ध में वह मुझे प्राय: भारतेन्दु-सम्बन्धी एक घटना सुनाया करते थे। कहते हैं, भारतेन्दु बहुत तड़के, उषःकाल से पूर्व, गंगा-स्नान को जाया करते थे। एक दिन स्नानार्थ नित्य आती एक घूंघटवाली के चरणों पर इनकी निगाह पड़ी तो वह उसकी सौन्दर्यराशि पर आनन्द से भर उठे। जब वह घर चली तो वह भी चरणों पर दृष्टि गड़ाये पीछे-पीछे दूर तक गए। ऐसा जब २-३ दिन लगातार हुआ तो वह स्त्री समझ गयी कि कोई पीछा कर रहा है और वह शंकित हो गई। एक दिन उसने साहस करके इनसे पूछ ही लिया—"मैं कई दिनों से देख रही हूं कि आप मेरे पीछे पड़े हुए हैं। आखिर बात क्या है?" हरिश्चन्द्र सामने आ गए। बोले: "मां! मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि आप एक बार अपने मुंह से घूंघट उठाकर मुझे दर्शन दें।" स्त्री को लगा तो बेतुका परन्तु शायद भावनावश या बहुत करके जान छुड़ाने के लिए, वैसा ही किया। यह एकटक देखते रहे और फिर उसके चरणों का स्पर्श और यह कहकर वहां से चले गए: 'मां! मैं अघा गया।'

उग्र ऐसे ही साहसी सौन्दर्य-प्रेमी थे। उन दिनों वाराणसी में कड़ा पर्दा था, इसलिए सामाजिक स्तर पर नारी-सौन्दर्य-दर्शन इतना सुलभ नहीं था; हां, कभी-कभी घाटों पर या मन्दिरों में या पक्के मुहाल की गलियों में चलते-चलाते उसकी झलक मिल जाती थी। प्राय: लोग सुन्दर लड़कों की ओर आकर्षित होते थे। लोग

उन्हें चाकलेट या पालट कहते थे; जैसे 'वह अमुक का चाकलेट है।' इनमें अधिकांश वासनालिप्त होते थे। इसी कारण लड़कों से भी सौन्दर्य का लोप होने लगा। यह बात 'उग्र' को बहुत कचोटती थी। उन्होंने लेखनी उठाई और कई कहानियां लिखीं। कोई इन कहानियों को छापने को तैयार नहीं होता था। अन्त में महादेवप्रसाद सेठ इसके लिए तैयार हुए। भूमिका के लिए वह पराड़कर जी, सम्पूर्णानन्द जी, कई लोगों के पास गए। इसके लिए लम्बी बहसें हुईं। सब इनकी सदाशयता और इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता को स्वीकार तो करते थे किन्तु कोई भूमिका लिखने को तैयार नहीं हुआ।

उन्हीं दिनों स्व० प्रेमचन्द जी ने एक पुस्तक माला—संसार दर्शन माला—की योजना बनाई थी—'पीप्स ऐट मेनी लैण्ड्स' के ढंग पर। उनके परामर्श और अनुरोध पर मैंने 'तिब्बत' पर पुस्तक लिखने की ज़िम्मेदारी ली थी। उन दिनों तिब्बत एक रहस्यमय और दुर्गम प्रदेश था। इसलिए प्रामाणिक सामग्री के संकलन और टिप्पणियां लेने मैं कलकत्ता गया। वहां इम्पीरियल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन श्री चेयरमैन से मिला। उन्होंने मेरे लिए हर प्रकार की सुविधा और व्यवस्था कर दी। मैं अन्वेषण-कक्ष के एकान्त में बैठकर अपना काम करने लगा। ठहरा था मैं सूतापट्टी (काटन स्ट्रीट) बड़ा बाज़ार में स्व० प्रसाद जी के एक सम्बन्धी के यहां। अवकाश के एक दिन मैं चितपुर रोड और सेण्ट्रल (बाद में चित्तरंजन) एवेन्यू को पारकर शंकर घोष लेन में मतवाला-मण्डल चला गया। वहां चौकड़ी जमी थी। 'उग्र' वहीं मिले, उसी पुरातन प्रेम से। मुझे रोक लिया और दूसरे दिन मेरे साथ ही लाइब्रेरी तक गए। बीच में हाग-मार्केट में हम लोग स्व० गुलाबरत्न वाजपेयी की दुकान पर बैठे और काव्य-रस-पान करते रहे। वहीं 'उग्र' ने मुझसे 'चाकलेट' की बात कही और यह भी कहा कि "पराड़कर, सम्पूर्णानन्द सब रचना की प्रशंसा तो करते हैं परन्तु सामने आने और भूमिका लिखने का नैतिक साहस किसी में नहीं। तुमने सदा मुझे सदुद्देश्यों की ओर प्रेरित किया है। तुम भी इसकी प्रशंसा करते हो परन्तु क्या तुममें साहस है कि जिसे प्राइवेट में ठीक कहते हो, उसका एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर समर्थन भी करो?" बातें कुछ इस ढंग पर की और मुझे इस तरह चंग पर चढ़ाया कि मैं उनकी भड़ी में आ गया। वैसे मैं उनके आन्तरिक सदुद्देश्य से परिचित भी था। तिब्बत पर अपना काम जारी रखते हुए मैंने इम्पीरियल लाइब्रेरी में बैठ-बैठकर 'चाकलेट' की लम्बी भूमिका लिखी, जो पुस्तक में मेरे नाम से ही प्रकाशित हुई।

'उग्र' बनाम चतुर्वेदी—उन दिनों हिन्दी के आकाश में एक और नक्षत्र चढ़ते आ रहे थे—बनारसीदास चतुर्वेदी। किसी ज़माने में यह प्रवासी भारतीयों की समस्या से सम्बद्ध थे और दीनबन्धु एण्डरूज़ तथा गांधी जी के प्रिय व्यक्तियों में थे। जब-तब अंग्रेज़ी में भी लिखा करते थे। इन पर गोखले तथा अन्य उदारवादियों का बड़ा प्रभाव था। संयोग कि स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय ने अपने 'माडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी' प्रकाशन-संस्थान से एक हिन्दी मासिक निकाला—

'विशाल-भारत'। सम्पर्क के कारण यह उसके सम्पादक हो गए। यह गम्भीर पत्र-सम्पादन-कला में तो निष्णात थे नहीं, हां, प्रचार-कला के उस्ताद थे। मैं उन्हें 'जर्नलिस्ट' उतना नहीं, जितना 'पब्लिसिस्ट' समझता रहा हूं। उन दिनों वह अक्सर कहा करते थे कि पत्र-व्यवहार और डाकटिकट के लिए सौ रुपये हों तो कोई भी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है।

'मतवाला' तथा उसके द्वारा उग्र का खूब नाम हो रहा था। इनका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। चतुर्वेदी जी उस ज़माने की आर्यसमाजी नैतिकता से प्रभावित भी थे। इसलिए व्यक्ति को ठीक तरह से जाने या उसका अध्ययन किए बिना इन्होंने 'चाकलेट' इत्यादि के विरुद्ध 'घासलेटी साहित्य' का नाम देकर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया और 'उग्र' पर बड़े प्रहार किए। उग्र तो उस समय एक क्रूसेडर थे; वह लिखते गए। इसी ज़माने में कलकत्ता के गोविन्द भवन नामक वैष्णव मन्दिर में दुराचरण का उदाहरण मिला। 'उग्र' ने इस काण्ड को लेकर 'मतवाला' में एक उपन्यास ही छपाना शुरू कर दिया। चूंकि गोविन्द भवन एक बड़ा संस्थान और ट्रस्ट था तथा उससे बड़े-बड़े धनिकों का सम्बन्ध था, इसलिए बड़ा तहलका मचा और विरोध का एक बवण्डर उठ खड़ा हुआ। रचना में नग्न वस्तुवाद की परछाईं थी। आज तो उससे भी भयंकर रचनाएं हमारे प्रतिष्ठित साहित्यकार लिखते हैं और बड़े-बड़े पत्र छापते हैं; संभ्रान्त पाठक भी उन्हें तेज़ी से हज़म करते जा रहे हैं किन्तु उस ज़माने के लिए यह समय से आगे की चीज़ थी। 'मतवाला' के लेखों से प्रोत्साहित होकर नेपाली कुमारी का शील भंग करने वाले हीरालाल की हत्या ही एक नेपाली युवक खड्गबहादुर ने कर दी और छाती खोलकर जुर्म का इक़बाल किया। उस समय उसकी वीरता से चमत्कृत हो अनेक युरोपीय महिलाओं ने भी सहायता की थी। खड्गबहादुर युवा समाज का 'हीरो' बन गया। इन सब बातों से 'मतवाला' पर बड़ा दबाव पड़ा और 'गोविन्द भवन' उपन्यास का छपना भी बन्द हो गया। इससे चतुर्वेदी जी को और भी प्रोत्साहन मिला। उन्होंने 'उग्र' के विरुद्ध हमारे साहित्य-जगत् में एक वातावरण खड़ा कर दिया।

पुरस्कार और दण्ड—उग्र समाज से, साहित्य के पूंजीपतियों से लड़ते-लड़ते थक गए थे। वैसे तो वह कठोर तत्त्वों से निर्मित हुए थे किन्तु इस घटना ने उनको अन्दर से झकझोर दिया और जो व्यक्ति कुटुम्ब, समाज, साहित्य, राजनीति में निरन्तर चले आते उत्पीड़नों से अप्रभावित रहा, वह इस घटना के कारण मन से टूट गया।

'उग्र' बम्बई चले गए। वहां से उन्होंने 'हिन्दिया' के प्रकाशन की सूचना मुझे भेजी और उसमें गम्भीर निबन्धों की एक मालिका के प्रणयन के लिए मुझसे अनुरोध किया किन्तु वह उसे निकाल ही न पाए। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं के लिए साधन जुटा लेना कोई हंसी-खेल नहीं है।

बाद में उन्होंने बम्बई से ही 'संग्राम' नाम का साप्ताहिक निकाला। इसके

प्रकाशक थे मनुदत्त त्रिपाठी। त्रिपाठी जी ने उसमें काफी घाटा उठाया, परन्तु पत्र दीर्घजीवी न हो सका।

चतुर्वेदी जी के प्रहार को उग्र कभी न भूले; हां, धीरे-धीरे जख्म भर रहा था। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके शैलीकार, मूर्तिभंजक कहानी-लेखक तथा साहित्यकार का कहीं अभिनन्दन न हुआ और जिस व्यक्ति ने साहित्य की मण्डी में नीलामी बोली बोलकर यश ही नहीं सत्ता भी अर्जित की और राजसभा का सदस्य नामज़द हो गया तथा बिना कभी जेल गए या क्रान्तिकारी हुए क्रान्तिकारियों और शहीदों का हिमायती बन गया तो उनकी दमित भावनाएं उमड़ पड़ीं। उन दिनों तक यह रहस्योद्‌घाटन भी हो चुका था कि चतुर्वेदी जी ने जब गांधी जी की सम्मति अपने पक्ष में मांगी तो उन्होंने बिना पुस्तक देखे और लेखक का मन्तव्य जाने अपनी सम्मति देने से इन्कार कर दिया और राजस्थान के नेता स्व० हरिभाऊ उपाध्याय को उग्र के पास भेजा। उग्र ने उपाध्याय जी को जो भी बताया या उपाध्याय जी ने उनको जैसा पाया उसकी रिपोर्ट के साथ 'चाकलेट' पुस्तक भी गांधी जी को दी। उन्होंने थोड़ा-बहुत उटल-पलटकर देखा और सम्मति दी कि लेखक का उद्देश्य तो अच्छा जान पड़ता है। गांधी जी की सम्मति अपने प्रतिकूल होने से चतुर्वेदी जी इस बात को दबा गए और छिपाए रहे, जिसे एक नैतिक कदाचरण ही कहा जा सकता है।

इन बातों से उग्र बहुत उत्तेजित हुए। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद उत्तरप्रदेश में जो मन्त्रिमण्डल बना था, उसमें उनके बाल्यमित्र और सहपाठी पं० कमलापति त्रिपाठी सूचना-मन्त्री थे। एक दिन उग्र उनके लखनऊ के बंगले पर पहुंच गए। वह एक गठरी में अपने जूते भी बांधे हुए थे। 'यह क्या है महाराज?' पूछने पर बोले—"संसद भवन के सामने जाकर गांधी जी की सम्मति दबानेवाले कायर, मेरी साहित्यिक हत्या करने वाले की पूजा इसी से करूंगा।" उन्होंने त्रिपाठी जी से पूछा कि 'जब खून करने वाले को फांसी की सज़ा मिलती है, तब जिसने मेरी साहित्यिक हत्या की उसको क्या सज़ा मिलनी चाहिए?' बहुत समझाने-बुझाने और खुशामद करने पर वह अपने इरादे से विरत हुए थे।

(१०)
परिव्रजन

बम्बई में उग्र कई बार काफी-काफी दिन रहे। एक बार मुझसे पूछा कि तुम्हें कलकत्ता, दिल्ली और बम्बई में कौन-सा नगर पसन्द है और मेरे 'बम्बई' कहने पर उन्होंने भी उसका समर्थन किया। बम्बई की स्वच्छता, शालीनता, अन्तः-प्रान्तीय सद्‌भावना तथा प्राकृतिक सुषमा हम दोनों को बहुत पसन्द थी। 'संग्राम' के ज़माने में वह मुहम्मद भाई नाम के एक संगीतज्ञ के पास रहते थे। इस सत्संग के परिणाम-स्वरूप वह संगीत के मर्मज्ञ बन गए। सितार उनका प्रिय वाद्य था।

कभी-कभी रेस में चले जाते, दांव लगाते और अक्सर हारकर लौटते थे। अन्त में वहां भी टिक न सके। वह झंझावात के समान वातावरण को प्रकम्पित करते, इधर-उधर बाधा-बन्ध-विहीन घूमते-फिरते थे।

इन्दौर में—एक दिन, कुली के सिर सामान लदाए, बिना किसी सूचना या पत्र-व्यवहार के, हिन्दी-साहित्य समिति भवन, तुकोगंज, इन्दौर पहुंच गए और समिति की मुखपत्रिका 'वीणा' के तात्कालिक सम्पादक कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' से बोले—"मैं 'उग्र' हूं; बम्बई से आ रहा हूं; यहां ठहरूंगा।" सो ठहर गए, और ऐसे ठहरे कि वर्षों हटने का नाम न लिया। उन दिनों भोजन एक ही समय करते थे, हां, भंग दो-दो बार लेते थे। दो-दो तोले की गोलियां यों ही, बिना चीनी, बादाम या दूध के, पानी के साथ गुटक जाते थे। सुबह चार बजे भंग की प्रथम मात्रा पेट में जाती थी। बाद में शौच, स्नान, हनुमान जी की स्तुति, पाठ-पूजा होती। उन दिनों नित्य सराफ़ा बाज़ार जाते; अण्टी में पैसे होते तो मिठाई खरीदते, नहीं तो पापड़ ही सही, और लौटते हुए राह में खतम कर देते। इन्हीं दिनों कहीं से एक मामूली कुत्ता ले आए। उसे भी सांकल पकड़े बाज़ार ले जाते और जलेबी-रबड़ी खिलाते थे। हां, उसे 'राम-राम' कहने को बाध्य करते थे। रहते-रहते वह सचमुच 'राम राम' या कुछ वैसा ही शब्द निकालने लगा था। इस विचित्र साथी ने उन्हें सारे इन्दौर शहर में मशहूर कर दिया था।

उज्जैन में—इन्दौर में रहते समय ही यह उज्जैन पहुंच गए। उन्हें शुरू से ही सुगन्ध का चस्का था; इत्र लगाते थे। इन्दौर मे चले तो १५ रुपये का इत्र उधार ले गए और सबका सब ले जाकर उज्जैन में 'महाकाल' भगवान के मस्तक पर उंडेल दिया। फिर महाकाल मन्दिर से लगे तालाब में कूद पड़े और तैरते रहे। बड़ा तहलका मचा क्योंकि उस सरोवर में इस प्रकार तैरने की परम्परा न थी। परन्तु वहां के कलेक्टर, हिन्दी के आलोचक श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी और आतिथेय पं० सूर्यनारायण व्यास के प्रयत्न से मामला तूल नहीं पकड़ने पाया। उज्जैन-निवास के समय उनके साथ उनका 'राम-राम' कहने वाला कुत्ता भी भारती भवन (व्यास जी का निवास स्थान) में रहता था, परन्तु वह निरामिषभोजी था। मिठाई खाता रहा, जो शायद उसके लिए हानिकर हुई और वह एक दिन चल बसा।

अखबारनवीसी का खब्त

उग्र जी के लिए 'विक्रम' मासिक निकाला गया, किन्तु मुश्किल से चार अंक निकल पाए थे कि प्रकाशक से झगड़ा हो गया। शासन की ओर से भी एकाध टिप्पणियों पर आपत्ति की गयी। बस, वह उससे अलग हो गए—यद्यपि उसके बाद व्यास जी लगभग ८ वर्ष तक उसे सम्पादित करके निकालते रहे। उग्र इन्दौर लौट गए।

इन्दौर रहते समय उन्होंने 'नया ज़माना' निकाला, 'क्रान्ति' निकाली, पर उनके जैसे फक्कड़ कहीं टिकते न थे, न कोई पत्र ही ज़्यादा दिन चल पाता था। इन्दौर

से उग्र बनारस और मिर्जापुर आए थे। मिर्जापुर से उन्होंने फिर 'मतवाला' निकाला। महादेव बाबू के पुत्र हरगोविंद सेठ उन्हें पितृतुल्य ही मानते थे। परन्तु यह 'मतवाला' भी थोड़े ही दिन चल सका। इधर-उधर रमते दिल्ली पहुंच गए : राजधानियों की श्मशान भूमि में। वहां से भी १९५६ ई० में स्वर्गीय महादेवप्रसाद सेठ की स्मृति में उन्होंने 'हिन्दी पंच' निकाला, जो अपने ढंग का एक ही पत्र था। किन्तु 'उग्र'-परम्परा के अनुसार उसके केवल पांच अंक निकल सके, यद्यपि ये पांचों अंक हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। दिल्ली से ही जनवरी १९६३ में उन्होंने दैनिक 'उग्र' निकालना शुरू किया, जो 'समाचार : विचार : सत्कार और प्रहार' का पत्र था। इसकी टिप्पणियां बड़े मार्के की होती थीं। दाम था पांच नये पैसे। इसके प्रकाशक-मुद्रक थे श्री श्यामसुन्दर गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, १४९, शिवाश्रम, क्वींस रोड, दिल्ली। किन्तु यह भी दीर्घजीवी न हो सका। वैसे उन्हें अखबार निकालने का खब्त था। उसी 'हिन्दी पंच' में उन्होंने 'अखबार और औरत' शीर्षक एक लेख में लिखा था : "मुझे तो आज भी लाख रुपये मिलें तो मैं और कुछ न करूं, बस अखबारनवीसी करूं। मारती है औरत भी, अखबार भी, पर मुझे अखबार से मरना पसन्द है। औरत मारती है कि खुदा की पनाह! लेकिन अखबार की मार सुभान अल्लाह!" उनका 'भूत', 'खुदा की राह पर', 'मतवाला', 'संग्राम', 'विक्रम', 'नया ज़माना', 'हिन्दी पंच', 'उग्र' इत्यादि न जाने कितने पत्रों से सम्बन्ध रहा किन्तु उनकी उग्रता और अव्यावहारिकता के कारण सब अल्पजीवी ही रहे। उनका उत्तर जीवन दिल्ली में ही बीता, यद्यपि वह काशी या चुनार में काले पत्थरों का मकान बनवाकर और उसका नाम 'श्मशान' रखकर अन्तिम जीवन बिताना चाहते थे। जब मैं गांधी जी के साहित्य का विषयवार सम्पादन-संकलन कर रहा था तब कार्यवश दिल्ली गया था और यमुनापार के उनके कृष्णनगर वाले मकान में उनसे मिला था। उस समय हम लोग इस आत्मीयता और ममत्व से गले मिले कि दोनों रोने लगे। घण्टों सुख-दुःख की चर्चा होती रही। लगा, जैसे हम अब भी अन्दर से वही हैं जो चालीस साल पहले थे।

(११)

उग्र : बाहर और भीतर

'उग्र' को सरसरी तौर पर देखने से वह एक फक्कड़, मस्तमौला, नशेबाज़, तीखे स्वभाव के लगते थे—ईंट का जवाब पत्थर से देनेवाले और 'उग्र' नाम को पूर्णतः सार्थक करने वाले। गांजा छोड़ कोई नशा उनसे बचा नहीं था, और वह छिपकर नहीं, खुले आम पीते थे। किसी की सही नहीं; किसी से दबे नहीं। रूखे टाइप के या कट्टर नीति के अनुयायी उनके विषय में अक्सर गलत राय कायम कर लेते थे। बल्कि शायद उग्र को लोगों की पारम्परिक नैतिक भावना को ठेस देने में कुछ मज़ा आता था, इसलिए बेमौके, सीधे-सादे और प्रशंसक आगन्तुक से भी वह कह

बैठते थे —'अगली बार एक बोतल लेते आइएगा।' मेरठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में वह झोले में शराब की बोतल लिए घूमते और किसी के चायपान का आग्रह करने पर उसे दिखाकर कहते—'हमार खुराक ई हौ।' हर जगह पाखंडी समाज के प्रति उनका अन्तःक्षोभ हथौड़ा लिए प्रहार को उद्यत रहता था। ज़्यादातर आदमी उनसे कतराते थे कि पता नहीं, कब क्या फब्ती कस दें। नकली मुखौटों को वह ज़बर्दस्ती बेनकाब कर देते थे। ज़रा भी बनावट और गुटबाज़ी उन्हें पसन्द न थी। इसीलिए किसी लेखक-मण्डल ने उनका प्रचार नहीं किया। इतने दिन दिल्ली में रहे, उसपर छाये भी रहे परन्तु वहां के लेखक-समुदाय से प्रायः अलग रहे, अपने में मस्त, अपनी कलम की बदौलत लाठी मारकर सुयश लूटनेवाले, एक क्रूसेडर के रूप में। जिसकी पूजा करते, उसे भी नहीं छोड़ते थे। अपने निर्माता पराड़कर जी में दुर्बलता देखी तो उनकी खबर ले ली। गांधी जी उनके देवता थे, परन्तु एक बार बिड़ला भवन (नई दिल्ली) में घुसकर उनको फटकारा कि "आपकी कथनी और करनी में अन्तर है; आप हरिजन-कल्याण की बात करते हुए बिड़ला भवन में रहते हैं ? जाइए, हरिजन-कालोनी में !" लाग-लपेट वह जानते न थे।

परन्तु अपने दीर्घकालिक सम्पर्क से मैं उनको वह नहीं समझता जो दूसरे लोग समझते हैं। मैंने हर रंग में उन्हें देखा है। उनकी नंगई और उनकी शालीनता; दोनों से खूब परिचित हूं। मेरा जीवन उनसे बिल्कुल भिन्न प्रकार का रहा और भिन्न वातावरण में बीता। जब उनसे कोई नशा नहीं छूटा, तब मैंने चाय पीने तक से परहेज़ किया। किसी प्रकार की शृंगारिकता की ओर मेरा झुकाव नहीं रहा। फिर भी मैं उनको प्यार करता, उनकी इज़्ज़त करता और हमारे बीच का यह बन्धुभाव आजन्म बना रहा। वह सब करते हुए, जो वह करते थे, मेरा सम्मान करते रहे और प्रत्येक गंभीर समस्या पर, चाहे कहीं हों, मेरी राय जानने की उत्सुकता उन्हें सदा रही।

मेरा दृढ़ मत है कि उग्र के कठोर बाह्यावरण के नीचे, गहराई में, कुछ ऐसा मृदुल तत्त्व था, जिसे कम ही लोग जानते थे, किन्तु उसी रस से वह दुनिया में और उसके संघर्षों के बीच ठहरे हुए थे। बचपन और कैशोर में मां, जिन्हें वह 'आई' कहते थे, के लिए उनमें बड़ा भावावेश था। दीन, दुर्विदग्ध, पीड़ित लोगों का दुःख वह देख नहीं सकते थे, परन्तु निरन्तर की कौटुम्बिक प्रतिकूलता के कारण, उन्हें जो आत्मत्याग करना पड़ा, उसमें अन्तर्घट का वह रस बहुत-कुछ सूख गया। फिर भी जो बचा, वह काफी था। सन्तों के पद गाते-गाते वह आत्मविभोर हो जाते थे। सूर के पद-सौन्दर्य पर रीझे हुए थे और तुलसी को तो अपनी नित्य संगिनी भंग की तरह छानकर अपने अन्दर उतार लिया था। 'अब लौं नसानी अब न नसैहौं' इत्यादि पद गाते-गाते उनके नयनों से अविरल अश्रुधार बहते मैंने देखी है। आतिश और मोमिन की भाषा तथा गालिब के भाव-गांभीर्य तथा रंगा-रंगी पर लट्टू थे। तुलसी और गालिब के वह आचार्य थे—मास्टर थे।

गालिब-काण्ड

समानधर्मा होने के कारण और गालिब तथा मीर पर किए मेरे कार्य से प्रभावित होने के कारण जब वह गालिब की टीका लिख रहे थे तब उन्होंने पत्र द्वारा मुझसे बार-बार अनुरोध किया कि मैं उनके ग्रन्थ के लिए एक विस्तृत भूमिका लिख दूं। वह समझते थे कि इससे उनके ग्रन्थ में चार चांद लग जायेंगे। इस सिलसिले में मैं उनके दो पत्र इसलिए यहां देता हूं कि उनसे उनकी पत्रलेखन-शैली पर तो प्रकाश पड़ता ही है, यह भी मालूम होता है कि संगीत की कैसी गहरी पकड़ उनमें थी :

बी ७।७, कृष्ण नगर, पो० गांधी नगर, दिल्ली-६
१६-६-५८

भाई सु······

'दीवाने ग़ालिब' पर मेरी लिखी टीका भी इसी दिसम्बर में प्रकाशित होने जा रही है। प्रकाशक अर्से से चाह रहे थे। मैंने तैयार कर दी यह देखकर कि मुझसे पीछेवाले 'गालिब-प्रेमियों' की रचनाएं आगे आ गयी हैं। यह पत्र इसलिए कि यदि तुम इस पुस्तक की भूमिका—विस्तृत हां— लिखना स्वीकार कर लेते तो इसमें निस्सन्देह चार चांद लग जाते। मेरी गांठ से तो जाना नहीं है कुछ, सो लिखने की उजरत जो हुक्म करोगे वही 'पत्रं पुष्पम्' के लेबिल के साथ भेंट सादर की जायगी। मेरा काम समाप्त हो चुका है। पुस्तक बहुचित्रित होगी।

हां, कमला[1] को तुम विकास की वायु में समझते हो या किसी और हवा में ? क्यों ?? पत्रोत्तर शीघ्र देना। बस।

वही
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

इसी सम्बन्ध में दूसरा कुछ विस्तृत पत्र यह रहा—

२६/१०/५८

भाई सु······

१७/१० का पत्र यथासमय मिला, उत्तर दशहरे के कारण ज़रा देर से दे रहा हूं। तुमने भूमिका लिखना मंजूर कर लिया, इससे मुझे बड़ी राहत हुई। 'विस्तृत' तुमसे न लिखवानी होती तो तुम्हें याद ही क्यों करता। "जब जाको काज तब मिलै पायँ परि सो······" लिखा बाबा ने। हां, भूमिका के मैं दो भाग (साघात और अनाघात) मानता हूं। साघात सो, जिसमें विशेष विवरण, सम्यक समीक्षण यानी विषय का व्याकरण-पक्ष हो और अनाघात वह जिसमें

१. पं० कमलापति त्रिपाठी, रेलमंत्री, भारत सरकार

साघात के आधार पर ही (उसी पथ और विषय पर) अद्भुत भाव से प्रकाश डाला गया हो। मिज़राब मारकर सितार से स्वर 'सा' निकालना साघात हुआ। दावे से सितार से 'सा' निकालने वाले को परदों का ज्ञान, स्वरों की जान— तारों के मिलाने की पूर्ण पहचान होनी चाहिए। तब कहीं सही साध सकेगा साघात का 'सा'। लेकिन आघात से सधे 'सा' के पीछे जो अनाघात सा ऽऽऽ ऽऽऽ (संगीत की भाषा में 'आस') सधता है, वह साघात के सा से अधिक आकर्षक होते हुए भी उसका सर्वथा अनुगामी होता है। मिज़राव की बुरी ठोकर से यन्त्र से स्वर नहीं, 'आस' नहीं, चीत्कार ही निकलती है। ग़र्ज़े कि ठोकर में बड़ा स्वर, बड़ी आस; बशर्ते कि उसके पीछे लय-सुर-ताल का मर्मज्ञ साधक हो। मैं क्या कहना चाहता था?

मैं यह कहना चाहता था कि श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने 'ग़ालिब की कविता' में 'प्राथमिक' शीर्षक से जो काम (अच्छा होते हुए भी) कम अच्छा किया है, उसे सर्वथा अच्छा (मेरी पुस्तक 'ग़लिब का दीवान' में) तुम करो। उन्होंने १६पेजी साइज़ के सत्तर पन्ने लिये हैं। अपना साइज़ डिमाई ८ पेजी है। तुम ५० पन्ने या ७५ जब लिखोगे तब पुस्तक की शोभा बढ़ेगी। मैं तुम्हारे बाद जो लिखूंगा वह १५-१६ पन्ने से ज़ियादा नहीं होगा। अपनी भूमिका में यदि तुम मीर और गालिब की तुलनात्मक विवेचना कर दोगे तो बड़ा आनन्द आ जायगा। खैर, तुम क्या करोगे, क्या नहीं करोगे, जानते हो। यह काम १५ नवम्बर तक हो जाता तो खूब होता। दिसम्बर के अन्त तक पुस्तक छप-छपाकर रेडी हो जाय तो ठीक। मज़दूरी तुम बतला देते तो बेहतर। नहीं बतलाते तो भी मैं तो श्रेष्ठ काम की मज़दूरी श्रेष्ठ ही मानता हूं।

भाव की भूख शान्त करने के लिए महाकवियों की रचनाएं सर्व-सुलभ गेहूं का आटा हैं। आटा एक ही, पर पंजाबी उससे तंदूरी रोटी बनाता है, ईसाई डबल रोटी, सिन्धियों की तिकोनी तह की चुपड़ी रोटी शायद तुमने खाई हो, महाराष्ट्रियों की उबाले आटे की रोटी, गुजरातियों की भाकरी, अमीरों के चपाती, फुलके, हमारे-तुम्हारे रोटी-रोट, गरीबों के लिट्टी-लिट्ट— ये सभी आटा रूपी महाकाव्य के विविध अनुवाद हैं। सबके प्रशंसक, सबके भोक्ता, खरीदार सबके। अभी तो ग़ालिव पर हिन्दी में १० से अधिक पुस्तिका-पुस्तक नहीं हैं, पर आगामी ५ वर्षों में २-३ दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो जायं तो भी कम समझना, क्योंकि ग़ालिब में इतने रंग हैं कि रंग-रंग के लोग रंग-रंग से देख सकें। तुम्हारी पुस्तक निकल गई होती तो भी मेरा दीवाने गालिब तो निकलता ही और अधिक सुन्दर निकलता। जैसे : गौड़ जी की 'गालिब की कविता' से मेरी पुस्तक की शोभा कुछ बढ़ेगी ही। प्रूफ़ जायगा लेकिन प्रूफ़ के पीछे तुम्हारी भूमिका रुकी रहे, तो ठीक नहीं होगा। आखिर 'उग्र' की टीका-विधि पर पन्ना-ही-दो पन्ना तो (हद से हद) लिखोगे? असिल प्रयोजन 'गालिब' और 'दीवाने गालिब' का चुस्त परिचय देना है।

तुम्हारा पता न मालूम होने से पहला पत्र मैंने पहले पोस्ट से सा० हिन्दुस्तान के संपादक के पास प्रेषण के लिए भेजा था अतः १६/९ का पत्र २७/९ को तुम्हें मिला। आशा है, घुटने का कष्ट सर्वथा नष्ट हो गया होगा।

तुम्हारा
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

यहां यह पत्र मैंने इसलिए पूरा दिया है कि इससे उनकी कई विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। मुझे दुःख है कि मैं उनके लिए भूमिका न लिख सका क्योंकि मेरी एक शर्त यह थी कि मैं अपने ग्रन्थ में उसका उपयोग करने को स्वाधीन रहूंगा। उग्र ने इसके लिए वचन भी दिया था किन्तु प्रकाशक को अपने व्यवसाय की दृष्टि से यह ठीक नहीं लगा। इसलिए बात 'उग्र' के इस कार्ड के साथ खतम हो गयी :

श्री राम

और तुलसी की ये लकीरें:

जाँचौं जल जाहि, कहै : अमिय पियाउ! सो,
कासों कहौं? काहू सो न पड़त हियाउ सो!

३-१२-५८
बी ७/७, कृष्ण नगर, पो० गांधी नगर
दिल्ली ६

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

इसके बाद १९६० ई० में गालिब पर मेरी पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई। पत्र के साथ उनकी सम्मति के लिए मैंने एक प्रति उन्हें भेजी। १/९/६० के अपने पत्र में वह लिखते हैं :

भाई सु०

प्रेम परिपूर्ण पत्र प्राप्त हुआ; प्रसन्नता हुई। पुस्तक—'गालिब शाश्वत तृष्णा का कवि'—मुझे यथासमय मिल गयी थी। उसके पूर्व महाकवि 'मीर' पर तुम्हारी लिखी, उसी प्रकाशन-संस्था से प्रकाशित पुस्तक भी मिली थी। 'मीर' पर तो तुमने पहले भी एक पुस्तक लिखी थी। 'गालिब' वाली किताब मैंने, अपने स्वार्थ से, बड़े गौर से पढ़ी। मिर्ज़ा नौशा की जो हू-बहू तस्वीर तुमने खड़ी की है, उससे बेहतर चित्र—आने वाले दस-पांच बरसों में भी—हिन्दी में कोई उतार नहीं सकेगा। विस्तार कोई कर भी दिखलाए, पर तुम्हारी भाषा (बोलती), तुम्हारा अध्ययन-मनन (गंभीर), तुम्हारा तेवर (सूफियाना) कहां से लायेगा? साधना से प्राप्त सिद्धियां धृष्टता या धींगामुश्ती से तो मिलती नहीं। अब तक हिन्दी में गालिब पर प्रकाशित सारी पुस्तकें पढ़ जाने पर भी बिना तुम्हारी पुस्तक पढ़े जिज्ञासु का ज्ञान बिलकुल अधूरा रहेगा, जब केवल 'गालिब : शाश्वत तृष्णा का कवि' को ध्यान से पढ़ जाने के बाद पाठक इस अद्‌भुत महाकवि के बहुत ही

निकट हो जायेगा। क्या जीवन, क्या समीक्षा, क्या व्याख्या--विषय का सुरस निचोड़, कलम तोड़कर रख दिया है तुम्हारी बेजोड़ लेखनी ने। भगवान तुम्हें सुयश दें।"

मेरी यह पुस्तक बनारस में छपी थी, जब मैं लखनऊ में था और शीघ्र प्रकाशन की दृष्टि से कोई प्रूफ मुझे नहीं भेजा गया। स्वभावत: छपाई में प्रूफ की काफी गलतियां रह गयी थीं, जो खटकतीं थीं और हैं। उग्र ने अपने सूक्ष्म अध्ययन से ऐसी कुछ गलतियों की ओर भी मेरा ध्यान आकर्षित किया था। हम दोनों ने एक दिन साहित्य-सेवा का जो व्रत लिया था, उसमें हम सदा एक दूसरे को देखते, परखते और संभालते हुए चलते रहे हैं।

प्रणवीर पुरुष

अपनी दीर्घकालिक घनिष्टता से मैं जानता हूं कि उनका सारा जीवन आत्मोत्सर्ग का जीवन रहा। उनमें गहरा सौन्दर्यबोध था, तब भी उन्होंने पारिवारिक कारणों से शादी न की। वह प्रणवीर पुरुष थे। वाराणसी के दशाश्वमेध घाट पर, बहती गंगा के साक्ष्य में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', कमलापति त्रिपाठी और उग्र ने आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा ली थी। इनमें पहले दो उसे भूलकर प्रवाह में बह गये; प्रमदा का आकर्षण झेल न सके; अकेले 'उग्र' अपने प्रण पर अन्त तक डटे रहे। अन्दर से निवेदित हृदय और सम्पूर्ण आस्थाएं लिये, किन्तु ऊपर से सबको नकारते चलने वाले और कठोरता की खाल ओढ़े अन्तिम समय तक संसार से जूझते रहे।

'उग्र' हिन्दी के एकमात्र बीटनिक साहित्यकार थे—अनिकेतन, मिथ्या और दम्भ का पर्दाफाश करने को सदा उद्यत। साहित्य के सोंटेबाज़, अन्दर मां का हृदय लिये परन्तु ऊपर से क्रान्तिकारी, अन्दर तप ऊपर ताप, अन्दर शिव ऊपर उग्र, दीन-दुखियों के लिए जिसकी कलम सदा रोई; उत्पीड़ितों और शोषितों के लिए जिनका दिल सदा आग उगलता रहा। इंसानियत का सौदा करने वाले, मांस के व्यापारियों को, झूठे शिष्टाचार की लपेट में धोखाधड़ी का धन्धा चलाने वालों को, और दम्भी तथा गुटबाज़ साहित्यकारों को बख्शते न थे। जो लोग साहित्य या राजनीति के गद्दीवर हैं और जिनमें समाजवादी मुखौटों की नारेबाजियों की छटा है; खुद जो खरीदे जा चुके हैं पैसे से, मान से, पद से या विदेश-भ्रमण, उपाधियों और पुरस्कारों के प्रलोभन से; और जो उस ओर रुख न करने वालों को उलटा लघुता या हिकारत की निगाह से देखते हैं—सभ्यता के दम्भी पुतले, वे उग्र जैसे सदा लुकाठी लेकर ललकारने वाले, हमारे आधुनिक साहित्य के कबीर को बर्दाश्त न कर सकते थे। और उन्होंने बर्दाश्त नहीं किया, सदा नाक-भौं सिकोड़ी, और जो 'उग्र' की प्रतिभा के कायल थे; उनकी ईमानदारी के मन से प्रशंसक थे, वे भी साहित्य के पूंजीपतियों के डर से केवल फुसफुसाकर रह गये। 'उग्र' सारी ज़िन्दगी 'अनवाण्टेड' रहे। कोई उपाधि कलम के उस

राजा को नहीं मिली; उसका जय-जयकार नहीं हुआ; उसे सरकारी अहम्मन्यता कभी देख न पाई; किसी संस्था ने उसका सत्कार-समारोह नहीं किया, न उसे थैलियां भेंट की गयीं; जबकि उसपर आक्रमण करने वाले, साहित्य में उसके पासंग भी न ठहरने वाले राजगद्दियों पर इठलाते फिरे। करीब-करीब उर्दू के स्व० सआदत हसन मण्टो की तरह वह सदा प्रताड़ित और परित्यक्त रहे।

वह निबन्धकार, नाटककार, उपन्यास-लेखक, कथाकार और पत्रकार तो थे ही, पर थोड़े ही लोग यह जानते होंगे कि वह सुकवि भी थे। साहित्य में आरम्भ तो उन्होंने कविता से ही किया था। और उत्तर मध्यकाल में भी 'पारिजातों का बलिदान' लिखकर उन्होंने प्रदर्शित किया था कि अन्तर में रस का स्रोत हो तो साहित्य की प्रत्येक विधा उससे कृतार्थ हो सकती है।

'उग्र' सत्ता द्वारा उपेक्षित होने पर भी जब तक जिये, शान से जिये। किसी के आगे गर्दन न झुकाई, सिवाय हृदयस्थ देवता के, जिसका बल उनको इस वीरानगी में भी एक ही बनाये रहा। वह थे, तो सट्टेबाज़ साहित्यिक ग़लतबयानी की हिम्मत करते डरता था। राज्यों के श्मशान और सत्ता के साहित्य तथा राजनीति की राजधानी दिल्ली में बनारसी रंग और मिर्ज़ापुरी अकड़ लेकर चलने वाले 'फारमेलिटी' (औपचारिकता) के दुश्मन उग्र को लोग देखकर उसी प्रकार दायें-बायें लग जाते थे जैसे हुंकार करते हुए शान से राजपथ पर जा रहे बनारसी सांड को देखकर हो जाते हैं। आत्मविश्वास के प्रतीक, परिस्थितियों से जन्म भर समझौता न करके लड़ते चलनेवाले, कमाये रुपयों को ठीकरों की तरह उड़ाने वाले, बाहर से औघड़ और अन्दर से तपस्वी, मनस्वी उग्र अपने-जैसे एक ही थे। दूसरा वैसा न होगा।

ऊपर से वह एक रंग में रंगे, गहरेबाज़ या फक्कड़ साहित्यकार थे पर जिन्होंने उनको देखा है, जाना-सुना है—उनकी सम्पूर्णता में, वे जानते हैं कि उनमें अनेक रंग थे। वह परम्परापूजक और विद्रोही, भोगी और योगी, असंयमी और नीतिपरायण, अनुरक्त और भक्त साथ-साथ थे। और २३ मार्च, १९६७ उनके अवसान का दिन भी विचित्र था; उनकी तरह उसमें भी अनेक रंग थे—एकादशी थी, ईद थी और ईस्टर भी था। ऐसे दिन मरने में उन्हें प्रसन्नता थी, सो वह उसी मस्ती से मरे, जिस मस्ती से सदा जिये थे।

साहित्य उनके जैसा शैलीकार खोकर सिर धुनेगा; उनकी मर्दानी और ओजस्वी वाणी अब हमें सुनाई न देगी; वह बांकपन अब देखने को न मिलेगा। हमने साथ-साथ सरस्वती की साधना शुरू की थी; सुख-दुःख में एक-दूसरे से प्रेरणा लेते चलते थे; लड़ भी लेते थे; साफ-साफ कह-सुन भी लेते थे। वह सह-जीवन की शृंखला टूट गयी है। वह मंज़िल पारकर आगे चले गये हैं और मैं अकेला रह गया हूं।

ग़ज़ाला तुम तो वाक़िफ़ हो, कहो मजनूं के मरने की,
दिवाना मर गया आख़िर को, वीराने पे क्या गुज़री ?

रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी'

पहली मुलाकात

१९२६ की सर्दियों का एक दिन। १० बजे का वक्त है। वाराणसी का सराय गोवर्द्धन मुहल्ला। स्व० जयशंकर 'प्रसाद' जी की बगीची का पश्चिमी छपरैल। 'प्रसाद' का शिव-दरबार लगा है। जी हां, शिव-दरबार मैं समझ-बूझकर कहता हूं क्योंकि इसमें हर तरह के लोग हैं : नाई-भड्डर से महापण्डित, शास्त्रमर्मज्ञ तक। और हर एक अपने रंग में है, बिल्कुल मुक्त, अनावृत, अपने नंगे रूप में। हा-हा हू-हू, फबतियों, किस्सों का बाज़ार गर्म है। बीच-बीच में चोंचें भी चल जाती हैं। इनके बीच, एक तरफ हटकर 'प्रसाद' तेल-मालिश करा रहे हैं, अपने ही बनाये चमेली के तेल की मालिश, और प्रायः मौन, हर रंग में समाकर सबका मज़ा ले रहे हैं। सबमें शामिल भी हैं और तटस्थ भी हैं। मानो अपने परमाराध्य शिव की भूमिका अभिनीत कर रहे हों।

इसी मण्डली में शिवपूजन आकर एक ओर, जैसे बड़ा संकोच हो उन्हें, बैठ जाते हैं। अक्सर आते हैं; यह तो रोज़ का दृश्य है। परन्तु आज उनके साथ एक श्यामल, इकहरे बदन, पर भरे-गुदगुदे और चिकने गालों वाला युवक भी है। उसकी दृष्टि में चौकन्नापन है, आंखों में हंसी है, ओठों पर मुस्कान है और है पान की रंजित छवि। मनोहर मूर्ति है, आकर्षित करने वाली। शिवपूजन 'बाबू साहब' (प्रसाद जी) से कहते हैं : यह हैं बेनीपुरी, रामवृक्ष,[१] 'बालक' और पुस्तक भण्डार (लहेरिया सराय) का सम्पादन-सम्बन्धी काम देखते हैं।

बस, उसी दिन से बेनीपुरी अपनी मण्डली में ऐसे घुले-मिले, जैसे बनारसी पान में कत्था। चन्द दिनों में ही मुझे लगा कि हम न जाने कब से अभिन्न हृदय हैं। बेनीपुरी, जिसे हम रामबिरिछ, रामदरख्त और रामट्री अनेक व्यंग-नामों से पुकारते रहे हैं, एक बांका-छैला, त्यागी परन्तु प्रेमल भावनाओं में सराबोर, शृंगार अतः विप्रलम्भ काव्य का प्रेमी, ठहाका लगाकर हंसता है तो ऊपर से नीचे तक उसका सारा शरीर हंसता है, कहीं कोई रिज़र्व नहीं। युवकोचित लोच का जीवन अपने लोचनों में भरे। मुझे मित्र ही नहीं मिला, सच्चे काव्य का सच्चा प्रेमी भी मिल गया।

शिवपूजन तो थे ही परन्तु वह ज़रा गुरु और गऊ टाइप थे। वह अपनी तरल हंसी ओठों में पी जाते थे; वह क्वचित् ही अट्टहास बन पाई होगी, कम से कम मैंने

१. जन्म : सन् १९०२ ई०; मृत्यु : ७ सितम्बर, १९६८ ई०

नहीं सुना; मुस्कान ही उनकी सीमा थी; उनका हास्य संयम से नियंत्रित होता था। शिव जी पहले से ही मेरे सुहृद थे और मेरे पीछे पड़े थे कि मैं एक अत्यन्त रूपसी कन्या से शादी कर लूं। अब एक से दो हो गये। खैर, उस समय तो शादी का विचार ही न था, न वह हुई परन्तु हम तीनों गम्भीर स्नेहल बन्धनों में बंध गये। उन दोनों का सम्बन्ध पुस्तक-भण्डार, लहेरिया सराय से था। स्वभावत: हमारी मण्डली के लेखकों की रचनाओं की ओर भी उनका ध्यान गया। कविरत्न मीर और दाग़े जिगर, मेरी दो आलोचनात्मक रचनाएं शिवपूजन ने वहां से निकलवाई थीं। रामवृक्ष (बेनीपुरी) के कारण और रचनाएं भी निकलीं, जिनमें माइकेल मधुसूदन दत्त और शेरशाह पुस्तकें भी थीं। प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, विनोदशंकर इत्यादि की रचनाएं भी निकलीं।

छायावाद का युग था वह। बड़ी भावनाएं और उमंगें थीं हमारे उद्वेलित यौवन में। प्रीति का एक ज्वार आया था परन्तु उसमें कम से कम शारीरिकता थी। शरीर था भी, नहीं भी था। मेरी कविताएं बेनीपुरी सुनता और झूम-झूम उठता। उसकी आंखों में कभी हंसी, कभी आंसू होते और मैं देखता कि आंखें मूंदे झूमते हुए वह सपनों में डूब रहा है। मैंने कविताएं छपाने के लिए नहीं लिखी थीं, न मैं उन्हें किसी कवि-सम्मेलन में पढ़ता था। परन्तु बेनीपुरी मेरे सिर हो गया और मान करके एक दिन कुछ कविताएं उठा ले गया। यही कविताएं कुछ दिनों बाद 'विपंची' के नाम से प्रकाशित हुईं।

घनिष्ठता

उन दिनों वाराणसी के जतनबड़ मुहल्ले में, भैरवनाथ मन्दिर के थोड़ा आगे, एक प्रेस था—लक्ष्मीनारायण प्रेस। बड़ा नामी प्रेस था वह उन दिनों। ग्वालियर के सरदार जटार साहब थे उसके स्वामी। मैनेजर थे गणपतिकृष्ण गुर्जर और उनके सहायक थे श्री सोमण, जिनसे हमारा ज़्यादा काम पड़ता था। बिहार प्रदेश के काम से यह प्रेस लदा रहता था। पुस्तक-भण्डार लहेरिया सराय का बहुत अधिक काम उन दिनों वहां होता था। बेनीपुरी छपाई के काम की देखरेख के लिए, अक्सर वाराणसी में रहता। इसलिए बैठकी के खूब मौके मिलते; बस, हमारी घनिष्ठता बढ़ती गयी। बेनीपुरी ने हम लोगों के अनुरोध से बिहारी सतसई और विद्यापति-पदावली पर टीकाएं लिखीं जो आज भी इस विषय पर प्रकाशित टीकाओं में बहुत ऊंचा स्थान रखती हैं। उसकी बिहारी सतसई और मेरा दाग़े जिगर इसी प्रेस में साथ-साथ कम्पोज़ होता और छपता था। एक बार पुस्तक-भण्डार के स्वामी रामलोचन शरण जी अपनी स्कूली पुस्तकों के प्रकाशन के सिलसिले में वाराणसी आये। बेनीपुरी ने परिचय कराया : खुरदुरी मोटी खादी का कुर्ता और हाथ में मोटा डण्डा। पूरा लट्ठभारती रूप था। मैं देखकर दंग रह गया उनकी वेशभूषा—यही थे आचार्य शरण जी, जो बाद में रायबहादुर हुए, जिन्होंने लाखों कमाये और एक प्रमुख प्रकाशक के रूप में बिहार के सिरमौर हो

गये और जिन्हें, आज जब वह गत हो चुके हैं, बिहार के एक निर्माता के रूप में याद किया जाता है। उनकी उन्नति एक कहानी है, एक आश्चर्य-घटना है। वह एक मामूली मास्टर थे। एक बार की बात है कि शिक्षा-विभाग ने व्याकरण की एक सरल पुस्तिका की पांडुलिपियों की मांग की। प्रतियोगिता में इनकी पुस्तक सर्वश्रेष्ठ निकली। वही बाद में प्रकाशित हुई और रेवड़ी की तरह समस्त बिहार में उसका प्रचार हो गया। अच्छा पैसा आया। तब उन्हें प्रकाशन की सूझी। प्रकाशक बने, बाद में अपना प्रेस भी किया। खूब कमाया; खूब लुटाया किन्तु उनका वह भदेस रूप बना रहा—ऊपर से ग्रामीण पर अन्तर से धुरीण; ऊपर से खुरदुरे परन्तु अन्दर से अत्यन्त सहृदय और मृदु। लाखों कमाकर भी वह नियत आयु-रेखा तक बराबर थोड़ी तनख्वाह पर 'मास्टर' बने रहे। हम सब उन्हें 'मास्टर साहब' ही कहते थे और अपने पेशे के लिए उनमें बड़ा गौरव-बोध था। उन्हींकी लाइन के एक दूसरे सज्जन से वाराणसी में मेरा परिचय हुआ था: स्व० बा० जगन्नाथप्रसाद जी भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस के अधिपति। उन्होंने भी लाखों कमाकर अन्त तक मास्टरी नहीं छोड़ी।

हां, तो अब मास्टर रामलोचन शरण से भी प्रगाढ़ परिचय हो गया। उनकी अनेक स्कूली पुस्तकों के उर्दू संस्करण तैयार करने और उन्हें स्व० प्यारेलाल भार्गव के नमक सुलेमानी प्रेस में छपाने आदि का काम प्रायः मैं ही करता था। इससे भी बेनीपुरी के साथ घनिष्ठता और बन्धुभाव में दृढ़ता आती गयी। १९२७-२८ में वही हमारे जत्थे को मुजफ्फरपुर (हिन्दी साहित्य) सम्मेलन में ले जाने का प्रमुख प्रेरक था। वहां प्रभात, केसरी, दिनकर, गंगाशरण, कृपानाथ मिश्र, भुवनेश्वर इत्यादि न जाने कितने नये मित्र हमें प्राप्त हुए। यह बेनीपुरी ही था जो सम्मेलन के अध्यक्ष पं० पद्मसिंह शर्मा की उर्दूदानी और नवीन हिन्दी कवियों के प्रति कटूक्तियों से झल्लाकर, भाषणकाल में ही मेरे पास आया और तैश के साथ बोला—"सुमन, यह भाषण बिना चुनौती के नहीं जाना चाहिए।" तब मुख्यतः उसी के अनुरोध से मैंने वहीं बैठे-बैठे 'कवि और कविता' पर एक लघु निबन्ध लिखा था जिसमें अध्यक्षीय भाषण में उठाई गई बातों का उसी व्यंग की शैली में जवाब दिया गया था। उस समय उसे लेकर हिन्दी में बड़ा तहलका मचा था।

जीवन-रेखा

मेरी ही तरह बेनीपुरी, बचपन में, बड़ी गरीबी में पले। यह बिरवा, पथरीली भूमि में, पत्थर की छाती फोड़कर निकला था और अनेक प्रकार की शुभाशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल जलवायु में पलकर ठोस वृक्ष बन गया था—वृक्ष, जिससे रस चूता था, फूल झरते थे और षटरस फल टपकते थे। मुजफ्फरपुर सम्मेलन में ही उसके गांव जाने का प्रोग्राम बना था, परन्तु हमारे मेज़बान, कुढ़नी इस्टेट के स्व० बा० विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी ने, जो मुझे अपना भाई मानते थे, चन्द दिनों के

उस प्रवास में मुझे कहीं जाने न दिया। बेनीपुरी का जन्म उसी, अपनी मधुर लीचियों के लिए प्रसिद्ध, ज़िले (मुजफ्फरपुर) के कटरा थाने के बेनीपुर गांव में हुआ था। पिता एक मामूली किसान थे। दुर्भाग्य ने बचपन के पनपने के दिनों में बच्चे का स्वागत किया। माता-पिता दोनों चल बसे। यह मामा के यहां बंशीपचड़ा ग्राम में पले। वहीं इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी हुई। फिर मुजफ्फरपुर नगर में बहनोई के कृपापूर्ण संरक्षण में रहने लगे, जहां भूमिहार ब्राह्मण कालेजियट स्कूल में इनका नाम लिखा गया। बस, यहीं से इनका अभ्युदय शुरू हुआ। कुशाग्र-बुद्धि तो थे ही, स्कूल में हिन्दी के परम प्रतिभाशाली शिक्षक पं० मथुराप्रसाद दीक्षित के पथदर्शन एवं प्रोत्साहन से, इनमें हिन्दी साहित्य के प्रति प्रेम का उदय हुआ और यह आगे बढ़ चले। कक्षा में सदा ऊंचा स्थान बना रहा। बचपन से ही तुलसी के रामचरित मानस तथा मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' इन्हें बड़ी प्रिय थी। जब आठवीं कक्षा में पढ़ रहे थे तभी इन्होंने साहित्य-सम्मेलन की 'विशारद' परीक्षा पास कर ली थी और तुकबन्दियां भी जोड़ने लगे थे।

किशोरावस्था में उनमें जो छेड़छाड़ करने, हंसने-हंसाने, लुटने-लुटाने की वृत्ति मैंने देखी थी, उसकी रेखा उनमें बचपन से ही मिलती है। बड़ा जीवट था उनमें; छलांग मारने की आदत थी उनकी। बस, असहयोग-आन्दोलन का शंखनाद होते ही बेनीपुरी और उनके गुरु दीक्षित जी दोनों ने स्कूल छोड़ दिया—एक ने पढ़ने से, दूसरे ने पढ़ाने से। उन दिनों बिहार के किसानों को जगाने के लिए बा० अरीक्षण सिंह ने 'किसान' साप्ताहिक निकाला था। बेनीपुरी की अवस्था केवल उन्नीस वर्ष की थी, किन्तु उन्होंने उसके सम्पादकीय विभाग में उत्साहपूर्वक काम किया। इसी बीच तय हुआ कि गांधी जी के अहमदाबाद से प्रकाशित साप्ताहिक विचारपत्र 'यंग इण्डिया' को हिन्दी में निकाला जाय। बा० नागेश्वरप्रसाद वर्मा इसके प्रधान सूत्रधार थे। तब तक 'हिन्दी नवजीवन' नहीं निकला था। यह हिन्दी संस्करण पटना से 'तरुण भारत' के नाम से निकला। दीक्षित जी उसके सम्पादक हुए। उन्होंने बेनीपुरी को भी पटना बुला लिया; उन्हें पत्रकारिता का रंग-ढंग बताया; शिक्षा-दीक्षा दी। कुछ दिनों बाद वह दीक्षित जी के सहायक हो गए। बाद में 'हिन्दी नवजीवन' के प्रकाशन के अनन्तर यह पत्र बन्द हो गया। बेनीपुरी बेकार हो गए।

अब बेनीपुरी को पत्रकारिता का चस्का लग चुका था इसलिए जब १९२४ ई० में पटना से हास्य-व्यंग-मिश्रित साप्ताहिक 'गोलमाल' निकला तो यह उसमें चले गए। यह पत्र श्री दीनानाथ सीगतिया ने निकाला था। जब पटना के वकील गणेश दीक्षित ने 'किसान मित्र' निकाला तो किसानों की सेवा के प्रति प्रबल रुझान होने के कारण उसमें आ गए। परन्तु वहां काम करते समय बुरी तरह बीमार हुए। काम छूट गया। कुछ दिन भटकते रहे। इसी बीच उनकी भेंट, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय के संचालक रामलोचन शरण जी से हुई। रामलोचन जी धुन के आदमी थे और प्रतिभा के पारखी थे। उन्होंने बेनीपुरी को अपने यहां बुला

लिया और भण्डार के साहित्य-विभाग की देखरेख का काम इन्हें सौंप दिया। १६२६ ई० में भण्डार से बच्चों का पत्र 'बालक' निकला। कुछ समय बाद उसका सम्पादन बेनीपुरी के हाथ आया और उन्होंने अपने निरन्तर श्रम तथा प्रतिभा से उसे खूब चमकाया। १६२८ ई० तक बेनीपुरी भण्डार में बने रहे और 'बालक' का सम्पादन करने के साथ-साथ अनेक बालोपयोगी पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'बगुला भगत' और 'सियार पाण्डे' काफी प्रसिद्ध हैं। यही वह समय था, जब बेनीपुरी से मेरी घनिष्ठता हुई थी।

बेनीपुरी भण्डार में काम तो करते ही थे, और वहां उन्होंने बहुत अच्छा काम किया, किन्तु उन्हें अपने काम से सन्तोष न था। यौवन की उमंग और देशसेवा की तरंग उन्हें बहाए लिए जा रही थी। वह युवकों में राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, मतलब सर्वांगीण आन्दोलन की, चेतना जगाना चाहते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि मैंने एक स्वतन्त्र 'युवक' मासिक निकालने का निर्णय किया है। बेनीपुरी का स्वभाव था कि उस पर जो धुन सवार होती, वह होके रहती थी। बस, एक दीवानगी उसपर सवार हो गयी और उसने पटना में एक 'युवक आश्रम' खोल दिया। मैंने उससे बहुत कहा कि युवक और आश्रम शब्द परस्पर बहुत अनुकूल नहीं हैं, तुम आश्रम-वाश्रम के झंझट में न पड़ो। परन्तु देश में एक उफान आ रहा था; पूर्ण स्वाधीनता की बातें होने लगी थीं और जवाहरलाल तरुणों के मस्तिष्क पर छा रहे थे। गंगाशरण सिंह, जो आज भी मौजूद हैं और लम्बे अर्से तक राज्य सभा के सदस्य रह चुके हैं तथा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का रचनात्मक काम करते रहे हैं, एवं रामनन्दन मिश्र के सहयोग से उन्होंने 'युवक' मासिक निकाला। यह पत्र युवक-क्रान्ति का अग्रदूत बन गया। इसमें 'दिनकर' की जोशीली कविताएं पहली बार निकलीं, उस समय वह प्राय: 'अमिताभ' के छद्म उपनाम से लिखते थे। मेरे भी 'विद्रोह काल का साहित्य' इत्यादि कई लेख उसमें प्रकाशित हुए थे। परन्तु 'युवक' के पीछे कोई ठोस भूमि तो थी नहीं, न पैसा, न अन्य सुविधाएं। यह तो दो-तीन घनिष्ठ मित्रों के उत्साह का प्रतीक था; बेनीपुरी किसी तरह उसकी व्यवस्था करते थे। १६३० में सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ा तो बेनीपुरी जेल चले गए। 'युवक' सरकारी दमन की भेंट चढ़ गया; बन्द हो गया। बेनीपुरी को पत्रकारिता का ऐसा नशा था कि जेल में भी हाथ से लिखकर 'कैदी' निकालते रहे।

जब जेल से छूटकर निकले तो उस ज़माने के प्रसिद्ध किसान नेता स्वामी सहजानन्द से परिचय हो गया। स्वामी जी ने अपने सहयोगी यमुना कार्यी के साथ, मुजफ्फरपुर के नेमनारायण प्रेस से 'लोक संग्रह' निकाला था। उन्होंने बेनीपुरी को उसका सम्पादक बना दिया। यह बात संभवत: १६३३ ई० की है। १६३४ का आरम्भ हुआ। १५ जनवरी का वह प्रलयंकर दिन आया, जब भयानक भूकम्प से बिहार क्षत-विक्षत हो गया। 'लोक संग्रह' का कार्यालय भी इस भूकम्प की भेंट हुआ और वह बन्द हो गया। तब वह स्व० माखनलाल चतुर्वेदी के आग्रह पर खंडवा जाकर 'कर्मवीर' का कार्य देखने लगे किन्तु वहाँ वह ज़्यादा दिन ठहर

न सके। कुछ दिनों बाद पटना आकर 'योगी' का सम्पादन हाथ में लिया। १९३१ ई० में जब भारतीय समाजवादी दल की स्थापना जयप्रकाश, राममनोहर लोहिया आदि ने की थी, तभी से बेनीपुरी उस दल के साथ थे; बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि वह उसकी प्रेरक शक्तियों में थे। 'योगी' को भी उन्होंने अपने रंग में रंग लिया, यहां तक कि उनके उग्र विचारों से उसके संचालक परेशान हो उठे। बाद में, जहां तक मुझे याद है यह १९३७ की बात है, समाजवादी दल ने अपना साप्ताहिक 'जनता' निकाला, तब यह उसमें चले गये। उनकी चुटीली, तेजस्विनी शैली के प्रभाव से 'जनता' सचमुच जन-क्रान्ति की प्रधान वाहिका बन गयी। इसके 'किसान' और 'शहीद' अंक आज भी मेरे स्मरण-पृष्ठ पर अंकित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय उन्होंने 'जनता' द्वारा एक नारा बुलन्द किया— 'न एक पाई, न एक भाई।' अर्थात् ब्रिटिश सरकार को युद्ध के लिए न एक पाई दो, न एक सैनिक दो। विहार में यह नारा, विशेषतः युवक-समाज में, खूब प्रचलित हुआ। सरकार इसे सहन न कर सकी और बेनीपुरी गिरफ्तार करके हज़ारी बाग सेण्ट्रल जेल में बन्द कर दिये गये। इसी जेल में जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया आदि चहारदीवारी फांदकर, १९४२ की जनक्रान्ति के दिनों में, बाहर निकल गये थे और बाहर क्रान्ति का अलख जगाते छद्म वेश में घूमते रहे थे तथा 'भारत छोड़ो' जनक्रान्ति के प्रमुख संयोजक तत्त्व बन गये थे।

जेल से छूटने पर जब बेनीपुरी बाहर आये तो देश की स्थिति बहुत बदली हुई थी। स्वतन्त्रता की उषा के पूर्व का ज़माना था। पुस्तक भण्डार का मुख्य कार्यालय पटना चला आया था। वहां से 'हिमालय' नामक मासिक निकलने लगा था। शिवपूजन उसके सम्पादक थे। बेनीपुरी उनके सहयोगी बन गये। 'हिमालय' हिन्दी के मासिक साहित्य में एक आदर्श बनकर आया था। उसका प्रत्येक अंक एक विशेषांक होता था। 'हिमालय' में अनेक मार्के के लेख निकले और कितनी ही नई सामग्री हिन्दी पाठकों को मिली। उसमें रायकृष्णदास जी ने अपने परम मित्र स्व० प्रसाद जी के बाल्यजीवन के जो संस्मरण लिखे, वे अनूठे थे। दु:ख है कि पत्र अधिक समय तक नहीं चल सका।

बेनीपुरी को तो राजनीति का चस्का था और राजनीति प्रचार-प्रसार का माध्यम चाहती है। बेनीपुरी ने 'जनता' को फिर से प्रकाशित कराया, यहां तक कि कुछ दिनों उसका दैनिक संस्करण भी निकाला। स्वतन्त्रता का अरुणोदय हो रहा था और अब आवश्यकता थी कि जनता सत्तालोभी नेताओं के भुलावे में न आ जाय। मार्गदर्शन की आवश्यकता अनुभव कर आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने वाराणसी से 'जनवाणी' का प्रकाशन आरम्भ किया और बेनीपुरी उसके साथ जुड़ गये।

१९५० ई० में सूर्यपुरा के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने अपने अशोक प्रेस, पटना से 'नई धारा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली और बेनीपुरी जी को उसका सम्पादक बनाया। उसी नगर के अजन्ता प्रेस से निकलने वाले बच्चों के

पत्र 'चुन्नू मुन्नू' का सम्पादन भी उन्होंने किया था। शायद ही किसी दूसरे पत्रकार का सम्बन्ध इतने अधिक पत्र-पत्रिकाओं से रहा होगा। तरुण भारत, गोलमाल, किसान मित्र, बालक, युवक, कर्मवीर, योगी, जनता, हिमालय, जनवाणी, नई धारा, चुन्नू मुन्नू इत्यादि लगभग एक दर्जन पत्रों से वह सम्बद्ध थे।

१९५७ ई० में वह अपने कटरा (मुजफ्फरपुर) निर्वाचन क्षेत्र से विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। वह अपने गांव को बहुत प्यार करते थे और अपने इलाके की सेवा के लिए सदा तैयार रहते थे। उस क्षेत्र में बागमती कालेज की स्थापना करने के लिए वे प्रयत्नशील थे। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने अपने निजी जीवन को भी सवांरने का प्रयत्न किया। अपने गांव में महल जैसा मकान बनवाया; अपनी सुन्दर ग्रन्थावली निकलवाई; बेनीपुरी प्रकाशन को जन्म दिया और अपनी रचनाओं से अच्छा पैसा भी कमाया। इस कार्य में जयप्रकाश जी की सहायता से उन्हें बहुत लाभ हुआ था किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वह रुग्ण रहने लगे; वह ताज़गी, वह शोखी जो ६० वर्ष की अवस्था में भी उन्हें जवान बनाये हुए थी, हवा हो गयी। उन पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ और सब प्रकार की चिकित्सा के बावजूद उनकी चेतना लुप्त हो गयी। अन्त में ७ सितम्बर १९६८ की सुबह उनको सदा के लिए हमसे छीन ले गयी।

सार्वजनिक सेवा

बेनीपुरी ने पर्याप्त एवं उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया, किन्तु वह केवल कल्पना के जादूगर नहीं थे; राजनीति एवं जन-सेवा को उन्होंने जीवन में साहित्य से भी ऊंचा स्थान दिया था। जन-जागरण एवं राष्ट्र की मुक्ति के प्रत्येक आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया, बल्कि उनमें अग्रणी रहे। असहयोग-आन्दोलन, सत्याग्रह-आन्दोलन, 'भारत छोड़ो' आन्दोलन, १९४२ की जन-क्रान्ति में उन्होंने बड़ा काम किया। १९३०, ३२, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२ में जेल गये और १९४२ से १९४५ तक नज़रबन्द रहे। प्रायः ९ वर्ष उन्होंने जेल में बिताये। १९२० से १९४६ तक कांग्रेस में रहते हुए उन्होंने किसानों की सेवा की, युवकों को नवीन प्रेरणाएं प्रदान कीं। वह पटना नगर कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे और उन्हींने १९२९ ई० में बिहार राजनीतिक सम्मेलन मुंगेर में पूर्ण स्वाधीनता के राष्ट्रीय लक्ष्य का प्रस्ताव रखा था। १९३७ में वह नेशनल कन्वेंशन के सदस्य चुने गये। १९३९ ई० में उन्होंने बिहार में समाजवादी दल की स्थापना की। वह वहां की सोशलिस्ट पार्टी के पार्लामिण्टरी बोर्ड के अध्यक्ष भी रहे। 'जनता' पत्र द्वारा किसान-आन्दोलन की गति तीव्र करने में उन्होंने बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया था। युवकों के हर आन्दोलन में वह आगे रहते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन इत्यादि से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो काफी समय

तक (१९४६-५०) प्रधान मन्त्री रहे थे। वह जेल में भी साहित्य-रचना में निमग्न रहे। उनका साहित्य उनके जीवन का दर्पण है। उनके लिए साहित्य कल्पना-विलास का नहीं, सामाजिक जीवन की रचना का साधन है। उसकी अभिव्यक्ति में गगन का विस्तार नहीं है, वह कल्पना के पंखों पर उड़नेवाले स्वप्नों का साहित्य नहीं है; उसमें इसी देश के खेतों-खलिहानों की मिट्टी की सोंधी गन्ध है और उस मिट्टी को कुरेदकर अपने हाड़-मांस से मोती के दाने पैदा करनेवालों की आह और कराह है। उसकी जड़ें इसी भूमि में, जिसे हम भारत कहते हैं, गहराई तक समाई हुई हैं।

व्यक्ति का अध्ययन

उनकी जीवन-रेखा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह अत्यन्त भावना-प्रवण व्यक्ति थे। यह भावना उनमें एक प्रभंजन की भांति आती थी और जब आती थी तो पहले से निश्चित किये हुए सम्पूर्ण कार्य उसके आगे उड़ जाते थे। उन्होंने इतने पत्रों का सम्पादन किया परन्तु कहीं भी ठहरे नहीं—एक ऐसे पथिक की भांति जिसकी कोई मंज़िल नहीं, या आज की मंज़िल ही कल की राह है। स्थिरता का जीवन वह जानते न थे, न उसे कोई मान देने को तैयार थे। वह एक पारदव्यञ्जक (मरक्यूरियल) व्यक्तित्व का भार अपने कन्धों पर लिये चलते थे; सदानर्तनशील, नित्यचंचल। हर मंज़िल उनके लिए राह थी। आज इसे पकड़ा, कल उसे छोड़ा, यौवन की चंचलता ठहराव जानती ही न थी।

इसीलिए उनके व्यक्तित्व में बहुव्यक्तित्व की झलक मिलती है। वह कवियों में कवि, पत्रकारों में पत्रकार, साहित्यिकों में साहित्यकार, चिन्तकों में चिन्तक थे परन्तु इन सबके बीच क्रान्ति की एक ज्वाला उनमें सदा जलती रही और वही उन्हें बेचैन किये रहती थी। जिन्होंने उनका साथ किया है, उन्हें देखा और परखा है, वे सहज ही समझ सकते हैं कि मूलतः वह प्रेमी जीव थे। यह प्रेम ही था जिसने उन्हें बच्चों के प्रति अत्यधिक ममत्व से पूरित कर दिया था; यह प्रेम ही था जो अनेकानेक बन्धुओं के घनिष्ठ बन्धन का कारण था। यह प्रेम ही था जिसने उन्हें राजनीति में समाजवादी बनाया और जिसे वह व्यापक सखाधर्म (कामरेडशिप) का रूप मानते थे; यह प्रेम ही था जिसने समग्र क्रान्तिकारी जीवन में उन्हें अपनी पत्नी (जिसे वह रानी कहते थे) से संजोये और जोड़े रखा—उस स्त्री से, जो उनकी वाणी के शृंगार तथा वैभव और लच्छेदार भाषा के सामने मूक-सी लगती थी। यह प्रेम ही था जिसने उन्हें कट्टर समाजवादी और जनक्रान्ति द्रष्टा होते हुए भी विद्यापति और बिहारी जैसे घोर सामन्ती शृंगार के उदात्त कवियों की ओर उन्मुख किया। भले उसकी जिह्वा पर क्रान्ति के गान रहे हों परन्तु अन्तर में वह मृदुल भावराशियों के बीच डूबा, यौवन की उमंगों और उन्मुक्त भावना की लहरों पर तैरनेवाला तरुण ही रहा। उसकी आंखों में एक नशा, उसके गालों पर प्रेमल भावावेश की चमक, उसके दिल और

जीवन में एक मधुर लोच और मृदुभार मैंने सदा देखा। उसकी प्रशंसा बेलाग होती थी और निन्दा भी उतनी ही स्पष्ट, किन्तु-परन्तु से रहित होती थी। लाग-लपेट से बहुत दूर, उन्मुक्त हास्य और भाव की गहराई में डूबते-उतराते चलने वाले। हंसते थे तो वह हंसी कि चांद शर्मा जाय, और हर्षविभोर होने पर वह अट्टहास मानो हिमखण्डों को अपने आलिंगन में समेटकर लिये जा रही जलधारा सहसा उपत्यका में कूद पड़े।

भावराशि ही उन्हें साहित्य में ले गयी और वही वहां से उन्हें बार-बार राजनीति में घसीट ले जाती थी। परन्तु राजनीति में आकण्ठमग्न होकर भी वह राजनीति में समाप्त नहीं होते थे। उन्होंने किसान आन्दोलन चलाया; उन्होंने युवक-वर्ग के उन्मेष का गहरा काम किया; उन्होंने समाजवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि बनाई और बच्चों में और उनके लिए बहुत-कुछ किया, परन्तु इन सब कामों को करते हुए साहित्य भी लिखा—प्राणोन्मादक साहित्य, उन्मेषकारी साहित्य, गहन चरित्र-चित्रण का साहित्य, आग लगाने वाला साहित्य तथा कलेजे में गुदगुदी, ठण्डक और आंखों में नशा पैदा करने वाला साहित्य। स्व० माखनलाल जी ने कहा था—"बेनीपुरी की कलम फौलाद उगलती है।" परन्तु बेनीपुरी की कलम फौलाद भी उगलती थी और पारिजात पुष्प की नाईं आंखों से टप-टप चूते आंसू की करुणा में नहाकर पावन और शीतल होना भी जानती थी।

एक ज़माने में उन्होंने 'गेहूं और गुलाब' का नारा दिया था। उनके जीवन में दोनों की ही उपयोगिता थी। पूर्ववर्ती जीवन में हम दोनों का एक-सा प्राधान्य देखते हैं परन्तु उत्तर जीवन गुलाब ही गुलाब था। गेहूं शरीर का, भौतिक सुख-समृद्धि का सूचक है; वह जीवन का आधार है; वह कोटि-कोटि का प्रतिनिधि है और उनकी मंज़िल भी है। उनके आन्दोलन का एक अंग यह था किन्तु भौतिक समृद्धि या आधार को पारकर जो सौन्दर्य-सृष्टि हृदय को स्पन्दित करती है, उसके निर्माण का भी उन्हें उतना ही ध्यान था। उनमें दीन-दुखिया, पीड़ित, शोषित और दुर्विदग्ध के प्रति प्यार था, उनके लिए एक भावना, एक आग थी परन्तु सुसंस्कृत शृंगारिकता और नफासत भी उनमें कुछ कम नहीं थी। वह झोपड़ियों को प्यार करते थे, माटी की मूरतों में प्राण फूंकते थे, उनके प्रेरक और पोषक थे किन्तु उन्हींका उपहास-सा करता एक महल उन्होंने अपने गांव में खड़ा किया—महल जिसे वह अपना स्मारक कहते थे; अपने ही भ्रम में लिपटे, क्योंकि उनका वास्तविक स्मारक तो वे अगणित स्मृतियां हैं, जो उनकी रानी, उनके बच्चों; उनके घनिष्ठ मित्रों और साथियों के जीवन से लिपटी हुई हैं।

उनमें भाषा की जादूगरी देखने को मिलती थी। चलती हुई भाषा के कायल थे और जानबूझकर संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखने के विरोधी थे। वह मुहाविरेदार, जनपदीय बोलियों की गहरी व्यञ्जकता में सराबोर, बोलती-चलती-हंसती भाषा

के उपासक थे। अक्सर कहा करते थे कि एक ओर मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, दूसरी ओर डाक्टर रघुवीर हिन्दी के दुश्मन हैं। मौलाना को हिन्दी के नाम पर चिढ़ है और उनके कारण भारत सरकार इस मोर्चे पर निठल्ली हो गयी है; दूसरी ओर डाक्टर रघुवीर हिन्दी को संस्कृत-जटिल बनाकर उसकी बखिया उधेड़ रहे हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी को वह हिन्दी का तीसरा शत्रु कहते थे क्योंकि वह हिन्दी की जनपदीय बोलियों का पृथक् आन्दोलन उठाकर हिन्दी की टांग तोड़ रहे थे। बेनीपुरी की भाषा में 'उग्र' की मस्ती और रवानी थी; ऐसी लिखते थे कि सीधे दिल में उतर जाती थी।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण और हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में उन्होंने बहुत काम किया। मैं लिख ही चुका हूं कि बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से उनका गहरा सम्बन्ध था। इन संस्थाओं में काम करते हुए उन्होंने न जाने कितने लेखकों, कवियों का निर्माण किया होगा। मुझे याद है कि 'दिनकर' को प्रोत्साहन देने और बनाने में उनका बड़ा हाथ था। उस ज़माने में दिनकर की कविताएं मेरे द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं के लिए प्रायः वही भेजा करते थे।

दोस्तों पर उनका जादू था, बल्कि उनके साथ वह सभ्य गुण्डई तक से पेश आते थे—उन्हें अपना समझने-समझाने का तीव्र आग्रह उनमें था। जिन्हें अपना लिया, उनके लिए जान देते थे। यह उन्हींकी दोस्ती का जादू था कि लतीफ हुसेन ललितकिशोर सिंह 'नटवर' बन गये। जब दोस्तों में बैठते तो सब मुखौटे और चोगे उतार देते थे; उस समय न वह नेता होते थे, न उपदेशक। शुद्ध रंजना-वृत्ति से भर उठते थे; और क्या कहकहे लगाते थे कि अन्तर का अन्तर भी फुदक उठता था। मित्रों को कष्ट में देखकर गहरी सहानुभूति से भर उठते थे; कुछ न कर सकते तो मसोस-मसोस उठते थे; कर सकते थे तो उसके बिना जाने और जनाये हुए करते थे।

मैं काशी रहा, दिल्ली रहा, अजमेर रहा, वर्धा रहा, बम्बई रहा परन्तु इन दूरियों को लांघकर वह जब-तब पत्रों के माध्यम से मुझ तक पहुंच ही जाते थे। और सदा वही पुराना सौहार्द्र। एक बार किसी पत्र में मैंने उन्हें 'आप' लिख दिया और कहीं कह गया कि अब तो आप नेता हैं। बाप रे! उत्तर में एक तूफान फट पड़ा और जब तक मैंने 'तुम' से माफी नहीं मांगी, माना नहीं। मुझे यह भी लिखा कि नेता कहकर मेरी हंसी न उड़ाओ; बिहार में एक ही नेता है राजेन्द्र बाबू। और यह उन्होंने तब लिखा था जब वह राजनीति में राजेन्द्र बाबू के अनुयायी न थे।

पुराणों में महादेव के गणों का जिक्र है: तरह-तरह के मुख, नाक, रूप धरे विचित्र-विचित्र प्राणी। गांधी भी युग के महादेव ही थे; स्वयं महायोगी किन्तु अपने इर्द-गिर्द शिष्यों की अगणित श्रेणियां जुटाये हुए: सब एक-दूसरे से जुदा, परस्पर-विषम। धर्मप्राण साधकों से विप्लवी-क्रान्तिकारी तक। बेनीपुरी भी

गांधी की रचना थे किन्तु होश संभालने पर स्वतन्त्र मार्ग बनाकर चलने वाले। उन्हें और उनके जैसे अनेक युवकों को अहिंसा में पर्याप्त एडवेंचर नहीं मिलता था या फिर वह इतना शान्त और अन्तर्हित था कि आत्मा को तो पुकारता था परन्तु जो यौवन शरीर में उमड़कर बार-बार बोलना चाहता था, स्वयं जलकर दूसरों को जलानेवाला यौवन, उसके लिए गांधी की आत्यन्तिक शान्त अहिंसा पकड़ के परे थी। बेनीपुरी गांधी के शिष्य होकर भी गांधी के शिष्यों में नहीं थे। इन लोगों के यौवन को देश के लिए मरने-मारने को तैयार, क्रान्ति के सौदाई ज़्यादा अपील करते थे। रासबिहारी, शचीन्द्र सान्याल, महेन्द्र प्रताप, परमानन्द, पृथ्वीसिंह, खुदीराम बोस, यतीन्द्र लाहिड़ी, गोपीमोहन साहा, आज़ाद, बिस्मिल, उनके दिमाग में नशा पैदा करते थे और उनकी जवानियों को ललकारते थे। उग्र, नवीन, बेनीपुरी इसी दल में थे। इन्हें गांधी भी आकर्षित करते थे और विप्लवी क्रान्तिकारी भी। गांधी के प्रति वन्दना के भाव से पूरित परन्तु क्रान्ति के प्रति तीव्र रुझान से भरे। इसीलिए दिनकर की हुंकार भरी कविताएं, बालकृष्ण के विप्लव-गान तथा उग्र की चिनगारियों से भरी कहानियां ऐसे युवक-वर्ग को ज़्यादा अपील करती थीं। अपील तो मुझे भी करती थीं और न जाने कितनी बार मैंने बालकृष्ण की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये' तथा दिनकर की 'ऐसा वीर कहां कि शैलरुह फूलों का मधुपान करे' कविताएं दोहराई होंगी। परन्तु हमारा हृदय उसमें व्यक्त प्राणभावना से दीप्त होता था, जबकि बेनीपुरी को नवीन की निम्नलिखित शब्दावली की शरीर-भावना उद्दीप्त करती थी :

वन-उपवन में, गिरि-गह्वर में,
अथवा किसी शून्य प्रान्तर में।
भटक रहे कुछ दीवाने हैं,
ले आशा-प्रदीप निज कर में।
भर इनके खप्पर को भर,
लोहू से नहीं, लपट से आरी।
अरी धधक उठ, धक-धक कर
तू सर्वनाश की भट्ठी प्यारी।

प्राणभावना के विचार से इस कविता में कहीं भी हिंसा का समाराधन नहीं है; खप्पर को लोहू से न भरने की बात इसका संकेत है। नवीन ने और भी कई प्राणोन्मादक कविताओं में यही भूमिका ग्रहण की है। गांधी जी के प्रत्येक आह्वान का उत्तर उन्होंने कविता और जीवन दोनों के माध्यम से दिया था। परन्तु बेनीपुरी अपना ही अर्थ लेकर मगन हो जाते थे और अपने ऐसे प्रत्येक विचार-प्रभाव को वह भावना की ऐसी दृढ़ता से ग्रहण कर लेते थे कि किसीकी कुछ सुनते ही न थे।

साहित्य की समाराधना

पत्रकार बनने की धुन उन्हें किशोरावस्था में जो लगी, वह प्रायः जीवन-भर चलती रही। पत्र निकालने या किसी पत्र-पत्रिका से सम्बद्ध होने का उन्हें नशा था। बिना इसके वह अपने को अपूर्ण अनुभव करते थे। जब कोई पत्र हाथ में हो तब अपने को प्रत्येक दिशा और हर एक विधा में अभिव्यक्त करने की सहूलियत रहती है। इसे वह खूब समझते थे और इसी कारण प्रचार-कला में वह हम लोगों से बहुत आगे थे। प्रतिभा और प्रचार दोनों ने उनके उदय और विकास में भाग लिया था।

पत्रकारिता उनकी पहली 'हाबी' थी। इसीसे उनके साहित्यकार में उबाल आया। राजनीति और जन-सम्पर्क ने उनकी अभिव्यक्ति को निखार दिया। अन्दर भावना और प्रतिभा तो थी ही, उन्होंने जिस भी विधा को पकड़ा, उसी में सफलता पाई। हिन्दी में बच्चों का साहित्य उनके कृतित्व से सार्थक हुआ। फिर उन्होंने जीवनी, शब्दचित्र, कहानी, उपन्यास, नाटक सब लिखा और अच्छा लिखा। अम्बपाली, गेहूं और गुलाब, चिता के फूल, लालतारा, पतितों के देश में, माटी की मूरतें, सिंहल-विजय, तथागत, गांव के देवता इत्यादि न जाने कितने-कितने नाम आज भी मुझे याद आ रहे हैं। 'माटी की मूरतें' की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"ये ज़िन्दगी के नज़दीक ही नहीं हैं, ज़िन्दगी में समाई हुई हैं। ये देखती हैं, सुनती हैं, खुश होती हैं, नाराज होती हैं, शाप और आशीर्वाद देती हैं।" 'पतितों के देश में' की रचना १९३० ई० में हजारीबाग जेल में हुई थी। इसमें एक कैदी की कहानी उसीकी जुबानी कही गयी है। 'चिता के फूल' की कहानियों में मृत्यु और संहार के अनेक चित्र हैं। 'कैदी की पत्नी' में आत्मकथात्मक छाया मिलती है। जेल जाने के बाद राजनीतिक कार्यकर्ताओं की पत्नियों की और उनके घर-परिवार की कैसी दुर्दशा होती है, इसका मर्मस्पर्शी चित्रण इसमें है। 'गेहूं और गुलाब' के रेखाचित्र मानो स्वयं में एक आन्दोलन हैं। 'अम्बपाली' उनका एक प्रसिद्ध नाटक है। यह नाटक उन्होंने हज़ारीबाग जेल के वार्ड नं.१ में रहते हुए, वहां के पुष्पित पौधों और लताओं के बीच बैठ-बैठकर लिखा था। इसमें वैशाली की राजनर्तकी अम्बपाली का चित्रण बड़ी सहृदयता के साथ किया गया है। इसमें मधूलिका का चरित्र भी बड़ा हृदयग्राही है। अरुणध्वज की मृत्यु के बाद, प्रस्थान करते हुए मधूलिका अम्बपाली से कहती है—"मैंने इसकी ज़िन्दगी ढोई है, अब तू लाश ढो।...जो ज़िन्दगी नहीं ढोता, उसे लाश ढोनी ही पड़ती है।" अम्बपाली के सिवा भगवान बुद्ध के जीवन पर आधारित 'तथागत' भी उनका एक अच्छा नाटक है।

संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार से वह प्रायः अपरिचित थे, किन्तु बंगला और उर्दू साहित्य, विशेषतः काव्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। काज़ी नज़रुल-इस्लाम की 'अग्निवीणा' उन्हें प्रिय थी। उर्दू में मीर, गालिब, जिगर, जोश

मलीहाबादी, साग़र निजामी तथा जमील मज़हरी उनके प्रिय कवियों में थे। इस उर्दू-प्रेम का प्रभाव उनकी लेखनी पर भी खूब पड़ा था और उसमें एक रवानी, एक चुलबुलापन, एक छेड़छाड़, एक सोज़ था,—ऐसा, जो बहुत कम लोगों में पाया जाता है।

अपनी राजनीतिक दिलचस्पियों और ध्येयों के बावजूद बेनीपुरी बड़ा दिलदार आदमी था। उसकी आदमीयत उसके हर 'इज़्म' पर हावी थी। अपने समस्त समाजवादी विचारों के साथ, उसमें एक सामन्ती अदा थी और कितनी ही आदतें सामन्ती थीं। बढ़िया महीन खादी की चुन्नटदार धोती, साफ-शफ्फाफ, बल्कि कभी-कभी भागलपुरी सिल्क का कुर्ता, नेतागिरी वाली सदरी, बनारसी पान और बाद के युग में बढ़िया सिगरेट, अच्छे दिनों में शीफ़र फाउण्टेनपेन, बड़े-बड़े शीशे और बढ़िया फ्रेम का चश्मा, बड़े नाक-नक्श के साथ वह रहते थे। साहित्य-रचना के समय भी मोटा, साफ-सुथरी चांदनी से आच्छादित गद्दा और तकियों के सहारे अधलेटे, आराम-आसाइश के साथ, लिखना पसन्द करते थे। उस समय भी सिगरेट और पान हों तो क्या कहने। बरसात का मौसम उन्हें बड़ा प्रिय था—बरसात जो हरीतिमा में लिपटी आती है। बिजलियों में हंसती है और जिसके प्रत्येक पदचाप से छम-छम मोती झरते हैं। फिर बरसात के मौसम में उन्हें एक दूरागत सन्देश तो मिलता ही था; वह उनके तूफानी जीवन से भी मेल खाता था। उनकी लेखनी में वही तूफान, वही गति, वही झोंके थे, जो उनकी ज़िन्दगी में थे।

हिन्दी के शैलीकारों में बेनीपुरी का स्थान बहुत ऊंचा है। भाषा उनका साधन नहीं, जीवन की प्रतिच्छवि है। उसमें उनकी ज़िन्दगी का रखरखाव है—वही शृंगार, वही लोच, वही रवानी और मंज़िल की वही आहट। लगता है, जैसे उनकी लेखनी में उनकी ज़िन्दगी ही उतर आई हो। आज तो मेरी ज़िन्दगी के टूटे दयार में उनकी अगणित यादें भटकती फिरती हैं। उनके जैसे दोस्तों के जाने के बाद जैसे मेरी ज़िन्दगी गूंगी और लंगड़ी हो गयी है।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

: तरल पीड़ा की धारा :

मेरी डायरी के कुछ पन्ने

९ मई, १९६४ ई०

मेरा चमन वीरान हो गया है। एकाध पौधे इधर-उधर रह गये थे; कभी-कभी फूल दे देते थे। उनके सानिद्ध्य में स्मृतियों के दीपक जल-जल उठते थे—बुझे दीपक पर एक लौ आ जाती थी। जाती थी और आती थी; आती थी और जाती थी। उसके सहारे ४० वर्षों के सपने संजोये, हृदय के शत-शत रिसते घावों पर पर्दा डाले, किसी तरह ज़िंदगी की डगर पर चला जा रहा था। वीरानियां तब भी थीं—परेशानियां, जटिलताएं, निराशाएं, कलेजा हूलनेवाली निराशाएं, परन्तु उस अंधेरे में चलते हुए भी कुछ दीप इधर-उधर टिमटिमाते थे—एक दिन जिनको लेकर जीवन का श्रृंगार किया था, पूजा के थाल सजाए थे, हौंस के साथ हम जीवन की यात्रा पर चल पड़े—तीर्थ-सलिल-सा पावन प्यार एक दूसरे के वास्ते लिये, नाचते-गाते, उछलते-कूदते, उसी प्यार से पेट भरते, उसीको बिछाते-ओढ़ते, उसी से शक्ति ग्रहण करते, उसी में अंकुरित होते,—वे सब जा रहे हैं। एक-एक करके जा रहे हैं।

किन्तु जिनकी बात आज याद आ रही है, वह केवल साहित्य के साथी न थे; वह जीवन के साथी थे। जिनके कलेजे के रस से मेरी साहित्य-सरस्वती का अभिषेक हुआ था, वह कैलास (कैलासपति त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश के हड़कम्पी नेता पं० कमलापति त्रिपाठी के छोटे भाई) जब चले गये, तब मानो बिजली टूटकर गिरी थी। बहुत दिनों तक मैं बोल भी नहीं सका था। तब जनार्दन[1] की बड़ी याद आई। मैंने उन्हें विह्वल हो पत्र लिखा, और कोई उत्तर न आने पर शंकाओं से घिर गया था। उस दिन नागार्जुन ने बताया कि वह तो अंधे-से हो गये हैं, दृष्टि चली गयी है। पटना से बंगला के विद्वान, एक बंगलक्ष्मी के पति एवं हिंदी के सुलेखक श्री हंसकुमार तिवारी प्रयाग आये तो मुझे भी कृपापूर्वक दर्शन देने घर पधारे। उनसे बिहार के पुराने मित्रों की चर्चा चल पड़ी। तब मालूम हुआ कि जनार्दन की हालत सचमुच खराब है। मैंने पुनः उन्हें पत्र लिखा—"जीवन की सन्ध्या आ रही है। तुम्हारी बड़ी याद आती है। बहुत दिनों से देखा नहीं, सुना नहीं। तुम आओ या मैं आऊं। एक बार फिर दिल खोलकर हम हंसेंगे, रोयेंगे, उछलेंगे, कूदेंगे।" किन्तु दिल की दिल में ही रह गयी। मेरे यहां आने के

---

१. जन्म : २४ जनवरी, १९०४ ई०, मृत्यु : ५ मई, १९६४ ई०

पूर्व ही उस पार से संदेशा आ गया। सन्ध्या ने उन्हें अपने आंचल में समेट लिया। टिमटिमाती ज्योतियों के ऊपर अन्धकार का लबादा फैल गया है। वह शाश्वत नीड में चले गये हैं। अब क्यों आवेंगे? आज ही सूचना मिली है कि ५ मई १९६४ को वह कैलासवासी हो गये।

(२)

१७ मई, १९६४ ई०

उस दिन कलम रख दी थी। हृदय इतना सूना हो गया है कि रो भी नहीं पाता हूं। कई बार जनार्दन के बारे में सोचा है; सोचता ही रहता हूं। पर सोचता ही रह जाता हूं, कुछ लिख नहीं पाता। उनके ज्येष्ठ पुत्र सुधाकर पूर्णिया कालेज में इतिहास के प्राध्यापक हैं। वह लिखते हैं : "बाबू जी अन्त तक आपका नाम लेते थे।" वह चाहते हैं, मैं उनके बाबू जी पर कुछ लिखूं। मित्र कहते हैं--- "कुछ लिखो।" दिल में एक हूक-सी उठती है—'धत्! कुछ लिखता क्यों नहीं?' परन्तु नहीं लिख पाता। स्मृतियों की तरंगें आती हैं। आती हैं और जाती हैं; जाती हैं और आती हैं किन्तु पकड़ में नहीं आतीं। एक आंधी-सी चल रही है। हर-हर। मेरा सारा संसार ही उनसे भर गया है। सब एकाकार है। अलग-अलग कर नहीं पाता हूं, और जब तक अलग-अलग नहीं होतीं, अपनी विशिष्टता में साकार कैसे होंगी? कलम उठाता हूं और रख देता हूं। फिर उठाता हूं, फिर रख देता हूं। मित्र खीझते हैं। मैं हार कर कह देता हूं :

कहने सुनने में जो नहीं आती,
वह भी एक दास्तान है प्यारे।

१७ मई, १९६४ (रात को १२ बजे)

नींद नहीं आती है। जनार्दन का मुस्कराता चेहरा बार-बार सामने घूम जाता है। उनकी उद्वेग भरी वाणी कानों में टकराती है। वाणी, जिसमें पुकार है, और पुकार जिसमें मौन ललकार है। आज उनका त्रयोदशाह है। उन्हें मरे १३ दिन बीत गये। वही जो पंचतत्त्व को प्राप्त हो गया है, न जाने कैसे बार-बार आकर मुझे कुरेदता है; ललकार कर कहता है—"मुझसे मिलने आने को कहा था। आओ मेरे साथ। हम साथ-साथ कैलास के यहां चलेंगे।" मैं सिहर उठता हूं—'उनको आया जान वायु में बांहों को फैलाता हूं'[1] और धक-से रह जाता हूं। तार्किक मन क्षण भर को उभरकर कह बैठता है—"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः—अरे मूढ़! वह कहां है?" परन्तु फिर वही हंसती आंखें, वही खिलखिलाती वाणी कह रही है—आओ। तुमने मेरी कविताएं बहुत सुनी हैं, आज तुम्हें अपना मौन मर्मकाव्य सुनाऊंगा, जिसे पिछले बीस साल से लिखता रहा हूं। सुनोगे? आओ।" स्पष्ट सुन रहा हूं। आंखें मलता हूं। स्पष्ट देख रहा हूं। मैं उठ खड़ा

१. जनार्दन झा 'द्विज' की ही कविता की एक पंक्ति।

होता हूं। बत्ती जला देता हूं। कहीं कोई नहीं है, तब भी मिटती-सी पगध्वनि मानो अब भी है। मैं पसीने-पसीने हो रहा हूं। पंखा चल रहा है। फिर धम्म से बिस्तरे पर पड़ जाता हूं।

(३)

२५ अगस्त, १९६४ ई०

तीन महीने बीत गये हैं। गहरी उथल-पुथल के तीन महीने। मई में जवाहरलाल चले गये; गांधी-नक्षत्र-मण्डल का शुक्र अस्त हुआ। गहरे मतभेद और अपनी दुर्बलताओं के बावजूद जवाहर मेरे जीवन के एक नायक थे। मेरी खुशी चली गयी। जून में स्वयं बीमार पड़ा। ऐसा कि बचने की आशा न रही। मर्मान्तक वेदना में एक सप्ताह बीता। फिर मौत सामने से मुंह चिढ़ाती निकल गयी। जीवन की सर्विस बुक में उसकी ऐसी न जाने कितनी चेतावनियां लिखी हुई हैं परन्तु इस बार उसका बड़ा क्रूर रूप था। शरीर को झकझोर कर रख दिया। निःसत्त्व हो गया मैं। अब कुछ संभल पाया हूं। इन महीनों में जनार्दन कभी भुलाया न जा सका। बीमारी में, स्वास्थ्य में, चलते-फिरते वह मेरे साथ लगा रहा है। और और काम सिर पर हैं, और और कर्तव्य हैं परन्तु वह जैसे सबको अन्यथा करके अट्टहास कर उठता है। न वह मुझे भूल पाता है, न मैं उसे भूल पाता हूं। रह-रहकर जिगर का शेर याद आ जाता है :

मैं जहाँ हूँ तेरे खयाल में हूँ,
तू जहाँ है, मेरी निगाह में है।

और आज ज़बर्दस्ती कलम पकड़कर बैठा हूं कि कुछ लिखकर उठूंगा।

कैलास : मेरी प्रेरणा का मुख्य स्रोत

१९२० के तूफानी दिनों में मेरा परिचय कैलास से हुआ था। पहले ही दिन ऐसा लगा, जैसे युग-युग से हम एक-दूसरे से परिचित रहते आये हों। गोरा-चिट्टा, गंभीर-सा, मुस्कान में करुणा और आंखों में जिज्ञासातुर विनोद का हलका-सा प्रश्न लिये, बचपन में कैशोर के आगमन का सन्देश भरे, और बहुत-कुछ उसीके समान, कैलास मेरे जीवन में आये। विद्या, धन, प्रतिष्ठा ने जिस कुल को परिमार्जित हिन्दू संस्कृति का दान किया था, उसीके वह एक विकासमान पुष्प थे। षड्दर्शन के निष्णात आचार्य, शिवस्वरूप शिवकुमार जी शास्त्री के नाती। और मैं एक दीन-दुर्विदग्ध कुटुम्ब का हारा-थका किशोर, किसी बात में समता नहीं। किन्तु स्नेह की गति विचित्र है, अकथ कथा है उसकी। उसका स्वभाव है कण्टक पथ पर चलना। यह फूल कांटों के बीच ही फूलता है। वह मुझसे छोटे थे, काफी छोटे। परन्तु 'गुणाः गुणिषु पूजास्थानं। न च लिंगं न च वयः' की दृष्टि से या न जाने क्यों मैं उनकी ओर खिंचता गया और वह मेरे अनन्य मित्र हो गये।

परन्तु शीघ्र ही मैं जेल चला गया। वहां से छूटकर आया तो राजनीति के

झंझावात में यहां-वहां उड़ता फिरा। जीविका के लिए भी कुछ न कुछ करना, लिखना-पढ़ना पड़ता था। हम मिलते थे प्रायः, परन्तु बीच-बीच में नहीं भी मिलते थे। गहरे स्नेह के उद्वेग ने अनुभूतिप्रधान कविता की धारा जीवन में प्रवाहित कर दी। लिखता पहले भी था परन्तु बेजान शैली, तुक्कड़ी कविता, जोड़-तोड़ के छन्द। अब मानो निर्जीव देह में प्राण आ गया। धीरे-धीरे मैं छायावाद आंदोलन की वाणी बन गया। उस युग में मानो उसका वकालतनामा मेरे ही बस्ते में आ गया था।

असहयोग आंदोलन शान्त हुआ। शिक्षण-संस्थाओं का बहिष्कार करने वाले छात्र फिर विद्यालयों में लौटे। कैलास भी सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल, वाराणसी में चले गये। कुछ समय बाद जनार्दन भी भागलपुर (बिहार) से प्रयाग, प्रयाग से काशी विद्यापीठ का चक्कर काटने के बाद इसी स्कूल में पढ़ने आ गये। परन्तु मैं मुक्त क्षितिज को पंखों से नापने वाले पंखी की भांति अस्थिर, कहीं बैठ न सका। और आज तक साहित्य की ग्रह-कक्षा में उसी प्रकार घूम रहा हूं।

जनार्दन और कैलास शीघ्र ही गहरे मित्र हो गये। इस प्रकार मुझे मिला-कर एक त्रिमूर्ति गठित हुई। मैं पतंग की भांति आकाश-विहारी होकर भी कैलास के हाथ से जुड़ा था। जनार्दन तो उनके सहपाठी ही थे। धीरे-धीरे जनार्दन उनके जीवन से ऐसे जुड़े कि जुड़े ही गये। यही कैलास उनकी काव्य-गंगा के हिमाद्रि थे। इसी मैत्री एवं पवित्र स्नेह ने 'द्विज' की वाणी को एक तूफानी स्वर, गहरी वेदना का स्वर प्रदान किया था। हम दोनों का काव्य एक ही भूमि पर विकसित हुआ है, एक ही स्रोत में स्नान कर शीतल हुआ है और एक ही वेदना की अग्नि में जल-तप कर निखरा है। कैलास ने भी अनुरोध से कुछ कविताएं लिखी थीं, जो अब भी मेरी संचिकाओं में पड़ी हुई हैं। मैं तीनों की काव्य-त्रिवेणी पर ध्यान देता हूं तो देखता हूं कि 'द्विज' में वंशी के हृदय-देश को छोड़कर बहे राधा के विरह-विदग्ध स्वर की यमुना थी; मुझमें गंगा की अपेक्षाकृत कृश एवं शांत धारा थी और कैलास अन्तःसलिला लुप्त सरस्वती की याद दिलाते थे।

मेरे लिए कैलास निकट होकर भी दूर और दूर होकर भी निकट थे। एक अजीब ऐकान्तिकता थी मुझमें, जो कहती थी :

तुम दूर हो तो किसलिए दिल में मुकाम है,
मैं पास हूं तो क्यों नहीं अपनी खबर मुझे ?

आज तक उस मधुर एवं स्वर्गीय स्नेह की पवित्रता से शक्ति ग्रहण करता रहा हूं; आज भी ग्रहण किये जा रहा हूं। मेरे जीवन का यह अद्भुत संस्कार है कि जिसे चाहा है उससे यत्नपूर्वक दूर, बहुत दूर चला गया हूं। विरह में स्नेह को चिरजीवित रखने का मन्त्र मैंने सिद्ध किया है—जैसे समाधि में योगी किसी प्रकाश-वलय में लय होकर अपनी क्षुद्र अस्मिता से ऊपर उठ जाता एवं शाश्वत तथा महत् की अनुभूति से पूर्ण हो उठता है। स्नेह की पवित्रता एवं सनातनता के लिए विरह मेरे ज़ीवन का, अतः काव्य का भी,

अनिवार्य उपादान रहा है। इसने मेरी रसवती को कभी सूखने नहीं दिया; मुझे सौन्दर्य की दृष्टि दी और आज भी मेरे मानस में जो तारुण्य की मृदुलता है, उसका रहस्य यही है। 'द्विज' भी सोचते और अनुभव यही करते थे किन्तु वह अपने स्नेह-स्रोत को बिल्कुल निर्वैयक्तिक—इम्पर्सनल--न बना सके। उनका सम्पूर्ण काव्य व्यक्तिपरक काव्य है जिसका रस और प्राण सब व्यक्तिगत है। काव्य मेरा भी व्यक्तिगत है किन्तु व्यक्ति प्रतीक के अवगुण्ठन के भीतर 'इम्पर्सनल' बन गया है। 'द्विज' के लिए कैलास एक ज्योतिविशिष्ट थे, एकमात्र रस-निर्झर थे, जब मेरे लिए ज्योतियों में एक ज्योति, विश्व-ज्योति की एक प्रतीक-शिखा मात्र थे।

(४)

१६ सितम्बर, १९६४ ई०

मेरे सामने जनार्दन के अपने हाथ से लिखकर प्रेम भेंट-स्वरूप दिये हुए कई ग्रन्थ रखे हैं। यह है 'किसलय'—कहानी संग्रह, यह है 'अनुभूति'—काव्य संकलन। ये हैं 'मालिका', 'मृदुदल' 'मधुमयी' कहानी संग्रह, 'चरित्र-रेखा' स्केच आदि। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मेरे लिए है अपने हाथ से लिख-लिखकर मेरे पास भेजी गईं उनकी कविताएं, जो उन्हींकी हस्तनिर्मित कापियों या संचिकाओं में सुरक्षित हैं। यह है 'द्विजपद्योद्यान', जो उनकी आरम्भिक कविताओं का एक संकलन है और जिस पर घर का पता रामपुर डीह, पो० शाहकुण्ड, भागलपुर, लिखा है। इसमें १९२० ई० से १९२३ ई० तक की प्रायः वे सब कविताएं हैं जो समय-समय पर 'आज', 'भूत', 'सुप्रभात', 'शान्ति', 'अभ्युदय', 'विद्यार्थी', आदि पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। कुछ अप्रकाशित भी हैं। ये प्रायः वर्णनात्मक पारिपाटिक कविताएं हैं। इनमें लोक-मानस के जागरण का स्वर तो है किन्तु सौन्दर्य-दृष्टि या रस-सृष्टि नहीं है। स्पष्टतः ये तब की कविताएं हैं जब उनकी हृदयगुफा के कपाट बन्द थे; देवता का आगमन न हुआ था; पूजा की घण्टी नहीं बजी थी; देवता ने द्वार पर थपकी न दी थी। दूसरी कापी में संग्रहीत कविताएं उस समय की हैं जब देवता की पुकार हृदय में पहुंच चुकी थी और एक स्नेह-धार उमड़कर दो हृदयों के मिलन का सन्देश दे रही थी। एक उपास्य मिल गया था—उपास्य, जिसे प्रेम किये बिना रहा न जा सकता था। उनके जीवन का रहस्य उन्हें चारों ओर से आवृत और आवेष्ठित किये जा रहा था। स्पष्टतः ये कविताएं कैलास की मैत्री से आलोड़ित रसार्द्र मानस से निकली हुई हैं। इनकी अवधि बहुत करके १९२३-२४ से १९३२ तक है। उन्होंने स्वयं ही इनको एक नाम दिया है—'अन्तर्ध्वनि'। बाद को इनमें से बहुत-सी कविताएं वाणी-मन्दिर छपरा से उनके प्रशंसक साहित्य-सेवी श्री मंगलप्रसाद सिंह द्वारा प्रकाशित 'अनुभूति' नाम के संकलन में ले ली गयीं। जो बचीं, वे फिर 'अन्तर्ध्वनि' के नाम से आगे चलकर प्रकाशित हुईं।

उनकी समस्त प्रेरणा के स्रोत

मैंने उनके जीवन पर पड़े पर्दे को हटाकर जो संकेत किया है उसकी पुष्टि उनकी प्रथम रचना 'किसलय' से होती है। इसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि उन्हींके, कुछ नई चीज लिखने, के अनुरोध पर मैंने कहानियां लिखना आरम्भ किया। इस संकलन में दस कहानियां हैं और सब भावावेश से पूर्ण। कई तो आत्मवृत्तात्मक—आटोबायोग्राफिकल—भी हो गयी हैं। इन्हें पढ़कर ही शायद उनके किसी विद्वान मित्र ने कहा था—"यू डू नाट सीम टु बी मेड आफ फ्लेश ऐण्ड ब्लड बट आफ इमोशंस ऐण्ड फीलिंग्स।" (तुम रक्त-मांस के नहीं, भावावेगों और अनुभूतियों से बने हुए मालूम पड़ते हो।) और यह बात उनकी कविता और कहानियों, दोनों के लिए ठीक जान पड़ती है। 'मृदुदल' और 'मालिका' में प्रौढ़ता अधिक है, चरित्र-चित्रण की रेखाएं सजीव हैं परन्तु भावों की सुकुमारता, हृदय का करुण आवेग वहां भी है। मेरी सम्मति में कहानी-कला की दृष्टि से 'मालिका' इनका सर्वोत्तम कहानी-संग्रह है, जब कि 'किसलय' में उनके परम निजत्व की सबसे स्पष्ट झांकी है। बिहार के एक दूसरे गद्य-लेखक श्री नन्दकिशोर तिवारी और उत्तर प्रदेश के भावुक कहानीकार चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की भांति भावुकता ही इनकी रचनाओं का प्राण है।

जो हाल कहानियों का है, न्यूनाधिक वही कविता का भी है। उनका सम्पूर्ण काव्य-वैभव घनीभूत करुणा से आर्द्र है। उनके ही शब्दों में "विह्वल भावनाओं की करुणा भरी भूमि में ही, अधीर उच्छ्वासों की मीठी-मीठी मार से निरंतर सिसकते रहने वाले कलेजे की निगूढ़तम व्यथा के भीतर ही कविता का अधिवास है।" उन्हें इस 'शीतल संताप' में 'तप का पुण्यप्रसाद' मिलता है और उनके लिए इस सिसकने में समस्त 'जीवन-आह्लाद' भरा है। इसीलिए उनकी कविता तरल पीड़ा की धारा है।

तरल पीड़ा के गीले गीत,
उमड़ पड़ते बनकर मधुधार

यह मीठी वेदना कलेजे से ऐसी चिपकी है कि उसे छोड़ आराध्य का और कोई वरदान लेने को उपासक तैयार नहीं—उस भक्त की भांति, जो भक्ति के ज्वार में ध्यानमग्न स्वयं आराध्य के आगमन पर भी आखें नहीं खोलता—

करो विचलित मत मुझको देव,
दिखाकर 'कुछ देने का चाव।'
साधना की वेदी पर बैठ,
पूजने दो यह 'अमर अभाव।'

दुःख ही उनका सुख है, अभाव ही उनका भाव है, वेदना ही उनकी साधना की चरम परणति है। जनार्दन स्वयं चाहे 'रक्तमांस' के बने न हों, किन्तु उनकी कविताओं में उनका हृदय रक्त उगलता दिखाई पड़ता है। भावना सघन होकर

मांसल हो गयी है। हम उसका स्पर्श अनुभव करते हैं। इसीलिए उनकी कविताओं में (उर्दू) ग़ज़ल का वातावरण है—वही प्रत्यक्ष आलाप, वही विह्वलता, वही व्यथातुरता। और वह पढ़ते भी वैसा ही थे। वाणी से अनुरोध और अनुनय के करुणाश्रु टपकते थे। मुझे अब भी याद है जब पहली बार उन्होंने मुझे अपनी 'अतिथि' कविता सुनाई थी, तो एक मौन कचौट मैंने अपने कलेजे में अनुभव की थी—

क्षणभर के सोये वियोग को छूकर दुख दूना न करो,
इस आतुरता से रोता जीवन मेरा सूना न करो।
रुको, और पल-भर रुक जाओ, अन्तिम बार सदय हो लो,
मेरे हृदय-रक्त से अपनी स्मृति का धुँधलापन धो लो।
भूल नहीं जाओ जिससे तुम इस घर का आना जाना,
मिलो जहाँ भी पड़े न मुझको परिचय में कुछ बतलाना।

फिर उन्होंने अपनी जादूभरी व्यथातुर वाणी में पढ़ा—

अयि अमर शान्ति की जननि जलन ! अक्षय तेरा शृंगार रहे।
जीवन-धन-स्मृति-सा अमिट निरन्तर मेरा तेरा प्यार रहे।
हाँ खूब जला दे, रह न जाय अस्तित्व और जब 'वे' आवें।
चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली केवल विभूति पावें॥

तब मैं भी वेदना की लहरों में डूबने-उतराने लगा था। वही उनकी उठी हुई भुजाएं, रोता कण्ठ और मृदुल आवाहन आज भी मुझे प्रत्यक्ष है। जब पढ़ते थे तो ऐसा लगता या मानो उनकी आंखें अपने आराध्य पर लगी हों और उन्हें ही वह सब कुछ सुना रहे हों।

अपने हृदय का प्रसाद जहां उन्होंने काव्य में दिया है वहां अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण वृत्ति के फलस्वरूप दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएं भी वह हिन्दी को दे गये हैं: 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', जो प्रेमचन्द पर हिन्दी में पहला आलोचनात्मक ग्रन्थ है; दूसरी है 'चरित्र-रेखा', जिसमें अनेक हिन्दी साहित्यकारों के शब्द-चित्र हैं। यह हिन्दी में 'थम्बनेल स्केचेज़' का एक उत्तम उदाहरण है।

(५)

२० सितम्बर, १९६४ ई०

जन्मे बिहार (रामपुर डीह, ज़िला भागलपुर, जन्मतिथि २४ जनवरी, १९०४) में; पनपे काशी में। आरम्भ में अपने गांव में ही पढ़ते रहे; फिर पास ही कुमैठा मिडिल इंग्लिश स्कूल में पढ़ने चले गये। वहीं तुकबन्दी का शौक लगा। श्री जगदीश झा 'विमल' थे इनके प्रथम काव्य-गुरु। वहीं व्याख्यान देना भी सीखा। १९२१ में सरकारी स्कूल छोड़ भागलपुर राष्ट्रीय विद्यालय में पढ़ने और घूम-घूमकर राजनीति-क्षेत्र में प्रचार-कार्य करने लगे। १९२२ में प्रयाग गये और स्व० कृष्णकान्त मालवीय के सम्पर्क में आये। उन्होंने इन्हें पढ़ने काशी

विद्यापीठ भेज दिया, जिसके स्कूल विभाग के अध्यक्ष उस समय प्रेमचन्द जी थे। बाद में पं० रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से उन्हीं के हिन्दू स्कूल में आ गये। जब हमारा प्रथम परिचय हुआ, वह इसी हिन्दू स्कूल में पढ़ने लगे थे। काशी नरेश हाल के पीछे ऊपर के एक कमरे में रहते थे। अपने हाथ से भोजन बनाते, कपड़े धोते, बर्तन मांजते और सफाई करते थे, किन्तु गरीबी के बीच भी सुरुचि और सौन्दर्य की छाप उनके प्रत्येक कार्य पर थी। बढ़िया धुला धवल खादी का कुर्त्ता और धोती, सिल्क का एक तहाया हुआ मालवीय टाइप दुपट्टा और माथे पर गोल लाल बिन्दी, मोहक वेश-विन्यास, आंखों में सपना। हिन्दू स्कूल के उस कक्ष में मेरी न जाने कितनी सन्ध्याएं उनके साथ बीती होंगी। उनके हाथ का भोजन करने के बाद, बात हमारी असली खुराक—कविता—पर आ जाती। "नया क्या लिखा है ? पढ़ो।" नया न लिखा होता तो मैं कहता—"अमुक कविता तो ज़रा सुनाओ।" वह सुनाते; मैं सुनता, सिर धुनता और कलेजे में पीड़ा लिये, रात को लौटता। कभी वह मेरे यहां आ जाते; प्रसाद जी बाहर होते तो हम सब साथ बैठते। कभी प्रसाद जी से आग्रह करके उनके 'आंसू' के नये छन्द सुनते, कभी द्विज से पढ़वाते और सुनते।

करुणा में डूबे द्विज जब खिलखिलाकर हंसते तो मानो उस हंसी में उनका हृदय सामने आ जाता था—निष्कपट, हृदय की गहराइयों से उठने वाला उन्मुक्त हास्य। एक सोते की कल-कल लिये हुए।

'चहुँपली'

करुणा रस में डूबे 'द्विज' दिल खोलकर हंसना-हंसाना भी जानते थे। मेरे विवाह में मेरे चन्द बहुत चुने हुए मित्र ही जबलपुर गये थे। इनमें 'द्विज' भी थे। भिन्न-भिन्न कट्टर जातियों के मित्र परन्तु मित्रता के नशे में सब कुछ भूले हुए। 'द्विज' इस मण्डली की जान थे। उनके कहकहों से न केवल जनवासा गूंज जाता था, हमारे हृदय भी खिल उठते थे। एक बार उन्होंने एक हास्य कथा सुनाई जिसमें बिहारी बोली में 'चहुँपली' (अभी पहुंचा) शब्द आता था। यह शब्द हास्य का ऐसा प्रतीक बन गया कि ज्योंही कोई बात होती, वह कहते—"पहुँपीं ? अच्छा चहुँपली' कि मित्र-मण्डली हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाती थी। कब दिन बीता, कब रात हुई और कब रात भी बीत गयी, कुछ पता ही न चलता था। खाना-पीना, कविता, गप-शप और हंसी,—कुछ अजब बाढ़ पर जिन्दगी थी। ऐसा स्वाद जीवन में फिर कभी न आया। हमारे साथ शहनाई के भारत-विख्यात उस्ताद बिस्मिल्लाह की मण्डली भी गयी थी। उस समय उनकी चढ़ती जवानी थी; बड़ा रियाज़ था। फिर शहर और मुहल्ले के विचार से, हम लोगों और काशी की मूंछें ऊंची रखने के लिए वह दिल तोड़कर बजाते थे। जबलपुर मुग्ध हो गया। उनकी कला, हम मित्र-मण्डली का साहित्य-विनोद; इन सबका ऐसा समां बंधा कि जहां देखो हमें बुलाया जा रहा है। जनार्दन अंग्रेज़ी बड़ी अच्छी

बोलते थे। बिहार के हिन्दी साहित्यिकों में वह अंग्रेज़ी के सर्वोत्तम वक्ता थे। फल यह हुआ कि हम दो दिन को गये थे और पांच-छ: दिन तक किसी ने हमें हटने ही न दिया।

१६३४ तक तो हम लोग घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। फिर मैं गांधी जी के पास चला गया। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे निजी सचिव के रूप में काम करने का अवसर दिया। उनकी अहेतुकी करुणा की क्या कहूं? वह तो मिट्टी से आदमी बनाते थे। अब वह नहीं हैं तो लक्ष-लक्ष व्यक्तियों की भांति मैं पितृहीन हो गया हूं। वहां से छूटा तो अकोला के 'नवराजस्थान' का प्रधान सम्पादक होकर चला गया। बाद में मुझ पर मुसीबतों के पहाड़ टूटते रहे। पत्नी की बीमारी के कारण सिर उठाने की फुर्सत न मिली। बहुत दिनों तक यह भी मालूम न हुआ कि जीवन की आंधी किसे कहां उड़ा ले गई है। बाद में पता चला कि मेरे काशी छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद वह भी वहां से चले गये। जनवरी १६३६ में वह देवघर हिन्दी विद्यापीठ के रजिस्ट्रार हुए; फिर ६ अगस्त १६३८ को राजेद्र कालेज, छपरा (जिसके प्रिंसिपल मेरे अन्यतम मित्र, कवि एवं सहृदय साहित्यकार श्री मनोरंजनप्रसाद सिंह थे और जहां बाद में शिवपूजन सहाय भी हिन्दी पढ़ाने आ गये थे) में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए। फिर तो शिक्षा-जगत के ही हो गये; उसी में उन्नति करते गये। २१ जून १६४४ को सच्चिदानन्द सिन्हा कालेज, औरंगाबाद (गया) के प्रिंसिपल हुए और वहां से २ अगस्त १६४८ को पूर्णिया कालेज में इसी हैसियत से चले गये। फिर जीवन के अन्तिम दिन तक वहीं रहे।

परन्तु पूर्णिया का जाना उनके लिए काल हो गया। वह हंसी गायब हो गयी; वह मार्दव एवं सौकुमार्य तिरोहित हो गया। मानसिक तनाव का ऐसा युग आया जिसमें उनका सर्वास्तित्व समा गया। मित्रों से मिलना-जुलना तक बन्द कर दिया और नगर के कोलाहल-केन्द्रों से दूर कालेज के सूने अहाते में बनी एक शतवर्षीया जीर्ण कोठी में रहकर चुपचाप जीवन के दिन काट दिये। हर तरह के सम्पर्क एवं प्रचार से दूर हो गये। साहित्य से भी सम्बन्ध तोड़ लिया। जीवन के ये अन्तिम सोलह वर्ष, जो पूर्णिया में बीते, वह तिल-तिल आत्महत्या करते रहे। सबसे दूर; कोई हमसफर जहां नहीं, कोई हमजुबां जहां नहीं, कोई साथ हंसने-रोने वाला जहां नहीं, दुनिया से कटे, सर्वथा एकाकी। मानसिक तनाव की यह स्थिति कुछ गलतफहमियों, कुछ कौटुम्बिक प्रवृत्तियों, और कार्यक्षेत्र के कुछ सहयोगियों के कृत्यों का सम्मिलित परिणाम थी। परन्तु इस निराशा में भी कुछ आशा लगी थी; उस मौन में भी किसी की प्रतीक्षा थी। उस उजड़े दयार से उनका जीवन मानो उनकी ही पंक्तियों में किसी को पुकार रहा था :

मग-विहीन इस सघन विपिन के बीच कौन आ पायेगा?
'तिमिर-लोक' से 'ज्योति-जगत्' की ओर मुझे ले जायेगा।
स्मृति-चिन्ता में निरत, बिसुध हो भूल गया मग मैं अपना।
कौन पकड़ मम पाणि प्यार से फिर उस पर पहुँचायेगा?

इस एकान्त-चिन्ता ने मधुमेह की सृष्टि की; फिर ग्लूकोमा हुआ जिसकी बुभुक्षा में दृष्टि भी चली गयी। अपने परम मित्र कैलास की मृत्यु ने उनको एकदम तोड़कर रख दिया। प्रतीक्षा का अन्त हो गया। हृदय-रोग हुआ। हुआ क्या, वह तो भाव-जगत् में शुरू से ही था। 'अज़ल के दिन जिन्हें लेकर चले थे तेरी महफिल से। वे शोले आज तक लिपटे हुए हैं दामने दिल से'—कुछ ऐसी स्थिति थी। उसीने उन्हें आत्मसात कर लिया और एक दिन जिन्होंने छायावादयुगीन काव्य का करुण श्रृंगार किया था; जिनकी वाणी में सरस्वती बोलती थी, वह, निर्जन एकाकी गृह में, मित्रों से दूर, स्वजनों से दूर, अपने ६ पुत्रों एवं ४ पुत्रियों तथा जो उनको जानते थे, उन्हें सदा के लिए रोता छोड़कर चले गये। छायावाद युग के मेरे घनिष्ठ कृपालु मित्रों में प्रसाद गये, प्रेमचन्द गये, निराला गये, शिवपूजन गये और अब द्विज भी चले गये।

और हिन्दी की गुटबन्दी का यह हाल है कि किसी ने उन्हें याद न किया। एक भी बढ़िया लेख बिहार के पत्रों तक में नहीं दिखाई पड़ा, जबकि छुटभैयों पर विशेषांक निकलते हैं। बात यह कि वह किसी गुट के न थे। किसी के प्रचार का साधन न बन सकते थे। किसी नेता के पीछे-पीछे न घूम सकते थे; नूतन-पुरातन से अतीत थे। हिन्दी के लिए शोर तो बहुत है पर शोर में भी राजनीति है। अपने कारखाने के माल को सबसे अच्छा बताने वालों, अपने कैंप के अनुयायी को 'न भूतो न भविष्यति' साहित्यकार बताने वालों की इस सट्टी में किसी ने 'द्विज' को याद नहीं किया। मेरा मतलब हृदय की शिरा-शिरा के साथ याद करने से है—उस द्विज को जिसकी साहित्य के प्रति, वक्तृत्व-कला के प्रति, अध्यापन के प्रति अपनी एक देन है। उनके चिता-भस्म से एक करुण वाणी चीख-चीख उठती है—

पये फातिहा कोई आये क्यों,
कोई चार फूल चढ़ाये क्यों,
कोई आके शम्मः जलाये क्यों,
मैं वो बेकसी का मज़ार हूँ।

हाय, हम प्रायः एक ही समय पैदा हुए, एक ही साल परिणय-बन्धन में बंधे, एक ही स्रोत से हमारी काव्य-सृष्टि हुई परन्तु आज मैं बैठा सिर धुन रहा हूं और वह चले गये हैं। मेरी पकड़ से बाहर, मेरी कल्पनाओं से दूर, शायद अपने उसी परम मित्र से मिलने, जिसकी स्नेह-साधना ही उनका साहित्य था, जिसका प्रकाश ही उनका जीवन था। आज तो उनकी स्मृति भी मौन है :

दाग़े फ़िराक़ सोहबते शब की जली हुई,
एक शमअ रह गयी है सो वह भी खमोश है।

मैं मिलने को तड़पता रह गया; वह न रुके; चले गये। ओह :—

जाते हुए कहते हैं, क़यामत को मिलेंगे,
क्या खूब, क़यामत का है, गोया कोई दिन और ?

दो बूंद आंसू चू पड़ते हैं, और मैं अपनी चिरपिपासाकुल हांफती-सी कलम रख देता हूं।

विनोदशंकर व्यास

भेंट

युरोपीय महायुद्ध खत्म हो गया था और मैं बनारस ज़िले की तहसील चंदौली के प्रसिद्ध कस्बे सकलडीहा के पास के गांव धौरहरा में काफी दिन पिता जी के पास रहकर बनारस लौट आया था। वहां ज़मींदार का बड़ा बाग, शिवमन्दिर और हाथीडुबांव तालाब मेरी सैर-सपाटे के प्रमुख स्थान थे। मेरे अंदर-अंदर अंग्रेज़ों के प्रति तीव्र विरक्ति के जो भाव थे उसे देखकर गांववालों ने मेरा नाम जर्मनी रख दिया था। गांव में दो ब्रह्मचारी ठाकुर पहलवान मेरे ही निकट रहते थे और मुझपर जान देते थे। आते समय सबकी आंखें भर आई थीं। उस ज़माने के गांव गरीब थे परन्तु उनमें बड़ा ही सौहार्द्र और स्नेह का वातावरण होता था।

लौट तो आया था परन्तु मन खोया-खोया-सा रहता था। अपने अन्दर उलझा-उलझा। समय काटनेवाली उपन्यास और कहानी की पुस्तकें खतम हो चुकी थीं। मन उनसे भर गया था। सुबह का समय तो नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय या कार्माइकल लाइब्रेरी या इन दोनों के बीच स्थित भरतदास न्यूज़पेपर एजेण्ट की दुकान पर बीत जाता था परन्तु शाम रीती-रीती, फिर भी भारी. लगती थी। ऐसे अनमने लोगों के लिए वाराणसी में एक, दूर तक एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला, स्थान है—गंगा-तट, जिसकी गोद में अनेकानेक पक्के घाट बने हुए हैं, जहां जाकर अगणित प्राणी सुस्थ और स्वस्थ होते हैं। कहीं कीर्तन हो रहा है, कहीं आरती की घण्टियां बज रही हैं; घण्टे और घड़ियाल निनादित हैं; नावों और बजरों पर संतरण का आनन्द है। कहीं कथा-पुराण हो रहे हैं। शाम को एक दुनिया ही वहां बस जाती है।

कहा गया है: 'एषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः', जिसकी कहीं गति नहीं, उसकी गति वाराणसी में होती है और जिसकी वाराणसी के किसी अन्य स्थान में गति-मति नहीं, उसे ये घाट गति-मति देते हैं। मेरी संध्याएं भी इनके अंक में बीतने लगीं।

१९१९ ई० में ऐसी ही गर्मियों की एक शाम को मैं दशाश्वमेध घाट पर एक स्थान पर बैठा था और न जाने किन खयालों और सपनों में डूबा हुआ था, कि मेरे पास एक सुदर्शन युवक छड़ी घुमाते 'हल्लो, यू आर हियर' (अरे, तुम हो यहां) आकर बैठ गया। यह था स्व० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर।' थोड़े दिन पूर्व ही

उनसे परिचय हुआ था। उस ज़माने में वह हिन्दूविश्वविद्यालय में पढ़ते थे। प्रो० पी० शेषाद्रि के प्रिय शिष्यों में थे; हिन्दी और ब्रजभाषा में तो कविताएं लिखते ही थे, अंग्रेज़ी उनकी बहुत अच्छी थी और उसी में उन्होंने आनर्स भी किया। वह अंग्रेज़ी में एक छद्म नारी-नाम से कविता करते थे। प्रेम, शृंगार और रोमांस की इन कविताओं में बड़ा आकर्षण था।

'समीर' आज नहीं हैं किन्तु अपने ज़माने में वह एक मज़ेदार आदमी थे। उन दिनों उनका उत्तप्त कैशोर था तथा शेली, बायरन, कीट्स और वर्ड्सवर्थ उनकी ज़बान पर थे। इन नारी के छद्म नाम से की गयी मृदुला रोमानी कविताओं को पढ़कर एक भारतप्रेमी अंग्रेज़ उनपर फिदा हो गया। उसी छद्म नाम से उसके साथ बराबर पत्र व्यवहार करते रहे—यहां तक कि उस ओर आकर्षण प्रबल प्रणय में बदल गया। उसने फोटो मंगवाई; इन्होंने साड़ी-जम्पर में एक फोटो खिचवाकर भेज दिया। मामला तूल पकड़ता गया और बाद में, सब पता लगने पर, उसने इन पर धोखाधड़ी का मुकदमा चलाना चाहा। मित्रों के बीच-बचाव से किसी तरह शान्त हुआ।

बाद में यह 'समीर' उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और राजस्थान के अनेक कालेजों में प्रिंसिपल रहे। कहीं ज़्यादा दिन टिकते न थे—'यथा नाम तथा गुण' में पूरे थे। शायद ही किसी दूसरे आदमी ने इतने कालेजों की आचार्यता निबाही होगी।

मुझे वह शुरू से ही मानते थे। उस दिन भी हम दोनों इन्हीं रोमानी बातों में डूब रहे थे कि उनके परिचय का एक दूसरा किशोर वहां आकर बैठ गया—गोराचिट्टा, एकहरा बदन, तीखे नाक-नक्श का एक सुन्दर किशोर। यही थे विनोदशंकर व्यास[1], जिन्हें हम, बाद में केवल विनोद के नाम से जानते-समझते रहे।

फिर तो अक्सर उनसे घाट पर भेंट होने लगी। 'समीर' तो दूर से आते थे, इसलिए कभी-कभी ही आ पाते थे परन्तु विनोद तो पास ही मानमन्दिर मुहल्ले में रहते थे—गोया हम उन्हींके गांव या राज्य में मिलते थे। उन दिनों उनमें लिखने का मज़ाक फूट ही रहा था। इक्की-दुक्की रचनाएं छपने लगी थीं। हमारी भी वही हालत थी। दो नवागन्तुक साहित्य की पगडण्डियों पर, विश्वास नहीं, कुतूहल के साथ चल पड़े थे। संयोग तो देखिए कि जब हम पहली बार मिले, हम दोनों की ही रचनाएं 'महिला दर्पण' नाम की एक मासिक पत्रिका में छपी थीं। यह पत्रिका छपरा (बिहार) से निकलती थी और कोई शैलकुमारीदेवी थीं उसकी सम्पादिका।

हम साथ-साथ घूमते; कभी नाव पर नगवा से राजघाट तक की सैर करते—तारिका-खचित नीलाकाश को देखते; घाटों पर लगे अगणित दीपों का प्रकाश हमें कुतूहल से भर देता और गंगा की कल-कल लहरों में एक रहस्यपूर्ण आमंत्रण

१. जन्म : दीवाली-निशा, १९०४; देहावसान : २७ जुलाई, १९६६ ई०

का स्वर हम सुनते। जीवन के अज्ञात प्रवाह में दो विपरीत स्वभाव और प्रकृति के युवक घटनावश आ मिले थे।

घनिष्ठ सम्पर्क

घनिष्ठता बढ़ी। अब मैं उनके घर भी जाने लगा। अक्सर हम घाट का चक्कर लगाने के बाद, विश्राम के लिए उनके घर पर बैठते। वहां वह अक्सर अपनी रचनाएं सुनाते और मुझसे सम्मति एवं संशोधन की अपेक्षा रखते। कभी-कभी मेरी कविताएं भी सुनते; जल-जलपान होता। मैं उनके पास-पड़ोस से पहले से ही परिचित था। उन दिनों मेरे ऊपर स्व० अम्बिकादत्त जी व्यास की वाग्मिता तथा रचनाओं का बड़ा प्रभाव था। उनके शतावधानी होने की बात सुनकर मैं आश्चर्य में डूब जाता था। उनकी 'गद्यकाव्य मीमांसा' मेरी प्रिय पुस्तक थी, किन्तु वैसे अवतारवाद एवं मूर्ति-पूजा सम्बन्धी उनके व्याख्यानों और ग्रन्थों पर मेरी बड़ी आस्था थी। इसी सिलसिले में कई बार उनके घर व्यास भवन हो आया था और उनके सुयोग्य पुत्र पं० राधाकुमार व्यास मुझपर कृपा रखते थे। अपने पिता का प्रकाण्ड पाण्डित्य तो उनमें न था परन्तु शतावधानी बनने की साधना में उन्हें भी कुछ सफलता मिली थी। मुझे ८-१० काम एक-साथ एक ही समय में करके उन्होंने दिखाये भी थे और अपने पिता की रचनाओं का पूरा सेट मुझे प्रदान किया था।

यह पं० राधाकुमार विनोद के गुरुजनों में थे और पूज्य थे। वह उन्हें चाचा कहते थे और बड़ा सम्मान करते थे। राधाकुमार जी थियोसोफिकल स्कूल में शिक्षक थे और उनका वहां के छात्र-समुदाय में भी बड़ा सम्मान था। उन्हीं के दिशादर्शन के कारण विनोद वर्षों तक थियोसोफिकल के छात्र रहे थे, वर्ना स्कूली पढ़ाई-लिखाई उनके स्वभाव से मेल ही न खाती थी।

घनिष्ठता से जहां सुख मिला, वहां कतिपय अवाञ्छनीय प्रवृत्तियों को भी बल मिला। मुझे बहुत जल्द पता लग गया कि विनोद हृदय के जैसे स्वच्छ और सरल हैं, उनकी आदतें वैसी अच्छी नहीं। घर के दुलरुवा बेटे होने के कारण, विशेषत: अपनी दादी के मोह के कारण स्कूली शिक्षा की ओर उन्होंने कभी गंभीरतापूर्वक ध्यान न दिया। स्कूल उनकी सैर और मनोविनोद का एक स्थान था, कोई विद्या या सरस्वती की उपासना का मन्दिर नहीं। घूमने-फिरने, किस्से-कहानियां पढ़ने, भांग-बूटी छानने, गप-शप में समय बिताने का उन्हें व्यसन था। दूसरों पर फबतियां कसने में वह कुशल थे। हां, आदमी यारबाश थे।

दो प्रवृत्तियां उनमें शुरू से थीं। एक घुमक्कड़ी की, आवारागर्दी की, कुछ-कुछ लफंगई की; दूसरी हास-विलास, संगीत या कलाप्रियता और साहित्यिक अभिरुचि की। पहली के मूल में थी उनकी बचपन से ज़हरीले दुलार में पली ज़िंदगी, ४ वर्ष की अल्पायु में पिता की मृत्यु; बाबा और बाद में दादी का असीमित, अमर्यादित प्यार। हर बात, बुरी या भली, यह दादी से, जो इनपर जान देती थीं, हठपूर्वक

पूरी कराके रहते। फिर दादा थे एक इस्टेट या बड़ी ज़मींदारी के मैनेजर। घर में सामन्ती वातावरण था—नौकर चाकर, हा-हा हू-हू, परम्पराएं। इससे भी आदतें बिगड़ीं और उस ज़माने के बिगड़ेदिल रईसों की ज़िन्दगी की कितनी ही बातें स्वाभाविक गति से, उनमें आती गयीं। दादा जब तक रहे, कुछ भय था परन्तु उनकी मृत्यु के बाद वह पूरी तरह अपने मन के हो गये; कोई कहने या टोंकने वाला ही न रहा। दादी को तो सिर्फ इनकी खुशी और सन्तोष से ही मतलब था।

एक ही ट्रेज़डी

बहरहाल, कमज़ोर जड़ों पर खड़ा यह पौधा बढ़ता गया। उसके लहलहाने के दिन आये; फूलने-फलने के दिन आये। जीवन में बसंती वातावरण फैला; हृदय में कोकिल पुकारने लगा। दादी तो इसी दिन की राह देख रही थीं। उन्होंने इनका ब्याह कर दिया। यह ब्याह क्या हुआ कि इस सपनों और कल्पनाओं की ज़िन्दगी पर मानो भयानक तुषारपात हुआ। यह लड़की इलाहाबाद और कानपुर के बीच में स्थित ज़िले, फतेहपुर, की थी। बड़ी उमंगों और अनिश्चय के बीच झूलते हुए विनोद लड़की ब्याहने गये। एक अनिंद्य-सुन्दरी प्राप्त करने की आशा लिये। मांग में सिन्दूर-दान करते समय जो देखा तो एक हाय कलेजे से निकल गयी। रूप-रंग में बड़ी सामान्या थी वह। जनवासे में आकर खूब रोये। एक तो जीवन पहले से ही असंयत था; अब जो पत्नी मिली उससे जीवन की सारी बाड़ टूट गयी। एक अवसर था, नियन्त्रण और सुधार का; वह भी निष्फल गया। बहुत यत्न करने, संयत होने और कुछ संभलने पर भी पत्नी में उन्हें कभी जीवन-संगिनी नहीं मिली। वैसे वह बड़ी सरल, सन्तोषी और घर-गृहस्थ पत्नी थीं। परन्तु वह जल दे सकती थीं, मदिरा की प्यास नहीं बुझा सकती थीं। परिणाम यह हुआ कि बाज़ी विनोद के हाथ कभी न आई और वह जीवन-भर दूसरी-दूसरी कामिनियों एवं प्रमदाओं में जीवन-संगिनी खोजते रहे।

कितै न औगुन जग करत नय वय चढ़ती बार

मेरी जब उनसे कुछ घनिष्ठता हुई तो वह इसी गदहपचीसी में थे। इधर मैं खान-पान, रहन-सहन सबमें सीधा-सादा, जिसे 'कंज़र्वेटिव' या कट्टरपन्थी कह सकते हैं, था। काशी में रहते हुए, शिव-भक्त होते हुए भी मैं भंग तक न छूता था; मांस-मदिरा तो बहुत दूर की बात है। किन्तु नई उमर, रेख भिन रही थी। बड़ी विषैली होती है यह उमर। इसमें बुराई की छूत जल्द लगती है। इसलिए मैं भी एकाध गोते खा ही गया। मुझे याद है कि दो बार विनोद मुझे होतेल-द-पैरी ले गये थे। हमारे साथ विनोद के एक दूसरे घनिष्ठ होटली साथी विद्याभूषण भी थे। यह विनोद के घर से थोड़ी ही दूर पर रहते थे। विद्याभूषण विनोद से भी सुन्दर, सुदर्शन किशोर थे; एकहरा सांचे में ढला गौर शरीर था उनका। उनके

पिता भृगुसंहिता प्रणाली के प्रसिद्ध दैवज्ञ थे और उन दिनों उनकी खूब चलती थी। रुपया बरसता था। इस तरह विद्याभूषण को विलास की हर तरह की सामग्री प्राप्त थी। पैसे भी वही खर्च करता था। दोनों ने खूब छककर पी; मेरे शामिल न होने पर मेरी लानत-मलामत की गयी; मज़ाक उड़ाया गया और मेरी दयनीय स्थिति पर मानो सहानुभूति-स्वरूप बेयरा से कहा गया कि अच्छा, इनके लिए आधा पेग शेम्पेन लाओ। उस समय मैं जानता भी न था कि शेम्पेन क्या चीज़ है। मुझसे कहा गया कि यह सबसे हलकी चीज़ है; इसमें नशा नहीं होता और युरोप में कुलीन स्त्रियां इसे पीती हैं; एक प्रकार का अंगूरी शर्बत ही समझिए। खैर; पीना पड़ा, पर मेरे लिए तो वही बहुत था और घर पहुंचते-पहुंचते मैं बेहोश हो गया। तब से होटलबाज़ी में मैंने उन दोनों का साथ छोड़ दिया। साथ तो मेरा तब भी कायम रहा किन्तु मैं मदिरा से बच गया।

'प्रसाद' के 'आंसू' की एक पंक्ति है:

प्रत्यावर्त्तन के पथ में,
पद-चिह्न न शेष रहे हैं।

सो विनोद ने कभी प्रत्यावर्त्तन नहीं किया। 'प्रसाद' को वह गुरु मानते थे, किन्तु उनकी सलाह की भी उन्होंने कद्र नहीं की। वह यहीं तक नहीं रहे; बढ़ते ही गये। मदिरा आई, फिर प्रमदा को तो आना ही था। घर में तृप्ति का कोई प्रिय साधन न था। अनेक लड़कियों और स्त्रियों के साथ उनका आकर्षण-व्यापार चलता रहा। पड़ोस की एक अतृप्त विवाहिता महिला के साथ लम्बे संसर्ग की कहानी तो उन्होंने खुद ही लिखी है। मैंने अनेक ऐसे दृश्यों का आभास पाया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने जीवन में ऐसी कोई भूल नहीं की है—दावा इतना ही है कि मुझे अपनी भूलों पर ग्लानि हुई है, पश्चात्ताप हुआ है और इसीलिए, प्रभु के अनुग्रह एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से, मैं उनसे ऊपर भी उठ सका हूं। परन्तु विनोद तो इन बातों में मज़ा लेते थे। वह मेरे साथ बाज़ार से गुज़र रहे हैं। स्कूल या कालेज जाने वाली कोई लड़की बसस्टाप पर खड़ी है; दोनों की नज़रें मिलती हैं; लगता है, काम योजनाबद्ध हो रहा है। बस आती है, चढ़ते-चढ़ते वह लड़की एक लिफाफा गिरा देती है। विनोद उठा लेते हैं; खोलकर पढ़ते हैं, फिर कुछ उस पत्र से, कुछ ज़बानी, लड़की की आसक्ति की कथा मुझे बताते हैं। इसमें वह मुदित और गर्वित भी हैं कि कैसी-कैसी लड़कियां उनकी ओर आकर्षित होती हैं। वह इन बातों में रस लेते थे। उनमें एक अजीब 'एबण्डन' था। वह बकौल गालिब ऐसे सवार थे जिसका न तो पांव रिकाब में है, न बाग हाथ में है।

इसीलिए जब वह पगडण्डी से साहित्य के राजमार्ग पर आये तो भी जगत के साहित्य से उन्होंने, बड़े-बड़े विद्वानों एवं साहित्यकारों के चारित्रिक दोषों का संकलन किया और उनसे अपनी इन दुर्बलताओं के लिए समर्थन प्राप्त किया। उन्होंने बार-बार ऐसे साहित्यकारों के उदाहरण लेकर दिखाया कि व्यक्तिगत

चरित्र का रचना या कला से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। मैं इन उदाहरणों को स्वीकार करते हुए भी उनकी व्याख्या और विवेचन—'इण्टरप्रेटेशन'—का सदैव विरोधी रहा। मेरे निकट चरित्र बहुत बड़ी शक्ति है। साहित्यकार, कवि एवं कलाकार में चारित्रिक दुर्बलताएं तो हो सकती हैं किन्तु उसकी कलागत महत्ता उनके कारण नहीं, उनके बावजूद होती है।

इसी प्रवृत्ति और बिगड़ी रईसी के कारण उन्होंने कोठों और कोठेवालियों पर भी ताक-झांक शुरू की तथा कई वारांगनाओं से सम्बन्ध बनाये और तोड़े। भाग्यवान वह इस बात में थे कि उन्होंने उनसे कभी धोखा नहीं खाया। उस ज़माने के साहित्य और समाज-परम्परा में वारांगना एक धनलोलुप, स्वार्थ पंकिल, निर्दयी नारी के रूप में चित्रित हुई है परन्तु विनोद का अनुभव इसके सर्वथा विपरीत था। उन्होंने उनकी वफादारी, शिष्टता, यहां तक कि त्याग के भी कितने ही उदाहरण देखे। विनोद में बड़ी सहृदयता थी, परन्तु वह अपने घर बैठी नारी के प्रति उतनी मात्रा में नहीं थी। उन्होंने मित्रों एवं साथियों से, परनारियों से निश्छल और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किये, राग-रंग किये, हास-विलास किये परन्तु अपनी पत्नी के प्रति उनका व्यवहार अपमान और निर्दयता की सीमा तक जाता है। यही दुर्बलता, प्रकारान्तर से, गुर्जरवाणी के शृंगार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी तथा हिन्दी के गौरव राहुल सांकृत्यायन एवं प्रेमचन्द में भी देखी गयी। अपनी निर्दोष, निरीह और परम्पराप्राप्त पत्नी की इन लोगों ने उपेक्षा की, और यह सब सुधार तथा प्रबुद्ध मानवता के नाम पर हुआ। इस दृष्टि से तो विनोद फिर भी अच्छे थे, क्योंकि एक तो उन्होंने अपने को लच्छेदार आवरणों से आवृत नहीं किया; जो बात थी, वह घर में भी सबको, पत्नी को भी, मालूम थी। फिर अपनी पत्नी के साथ भी वह पारम्परिक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते ही गये।

बहरहाल इन कोठेवालियों का गहरा और विस्तृत अनुभव उन्हें था। कलकत्ता और बनारस का हर एक मैकदा उनका छाना हुआ था। इसी सिलसिले में, उत्तर जीवन में उनकी भेंट और घनिष्ठता वाराणसी की ललितकिशोरी देवी से भी हुई। यह एक भिन्न और ऊंचे प्रकार की वारांगना थीं—शिष्ट, शिक्षित और संगीत में प्रवीण। नाम था ललितकिशोरी, किन्तु टामीबाई के नाम से मशहूर थीं। विनोद के परिचय में आने के काफी पहले मेरा उनसे परिचय हुआ था। बात यह थी कि हमारे एक सम्बन्धी रहते थे आरा (शाहाबाद, बिहार) में। उनके लड़के के विवाहोत्सव में, बनारस की कोई मशहूर तवायफ लाने का आग्रह लड़की वालों की ओर से था। आरा से मेरे पास आदमी आये कि मैं चलकर किसी को ठीक कर दूं। बड़ी हिचकिचाहट थी मुझे, क्योंकि शुरू से ही मैं गांधी जी की ओर आकर्षित था और विवाह में मुजरा, मद्य तथा मांसाहार, तीनों मकारों का घोर विरोधी। परन्तु रिश्ता और आग्रह ऐसा था कि अनिच्छापूर्वक ही सही, जाना पड़ा। इसी सिलसिले में मेरा उनसे परिचय हुआ था। वह आरा गयीं तथा वहां उन्होंने लोगों पर अच्छा प्रभाव डाला। मैं भी इस शादी में गया था। वहां

उन्होंने जो ग़ज़ल सुनाई थी, उसका एक शेर आज तक मुझे याद है :

आईना उठा लाये और अक्स से यूं बोले,
क्यों बात नहीं करता जो तू है वही मैं हूँ।

वहीं उनसे काव्य के विषय में भी काफी बातें हुईं। वाराणसी लौटने पर भी एकाध बार भेंट हुई। वह गाजीपुर की रहने वाली थीं और चैती तथा पूर्वी बहुत अच्छा गाती थीं। हाज़िरजवाब और मज़ाकपसन्द थीं। उर्दू के हास्य-व्यंग कवि अकबर इलाहाबादी की भक्त थीं, जिनका उस समय मुझपर भी जादू था। उनकी एक लड़की भी थी उन दिनों। छोटी पर गजब की सुन्दरी; बिलकुल सांचे में ढली थी; किंचित स्थूलता की ओर बढ़ती मां के विरुद्ध, छरहरी यष्टि वाली। उसे उन्होंने पेशे से अलग ही रखा और बड़ी होने पर एक सुशिक्षित युवक के साथ बड़ी धूमधाम से ब्याह दिया। उन्होंने 'अकबर' का दीवान भी मुझे पढ़ने को दिया था, जो लौट न सका और मेरे ही पास रह गया क्योंकि मैंने घोर व्रतों एवं प्रतिबन्धों के साथ जीवन को दूसरी ओर मोड़ लिया था और असहयोग आन्दोलन के तूफान में पड़ गया था। यही ललितकिशोरी बाद में विनोद की सहचरी बन गयीं और सब कुछ छोड़ उनके साथ एक नये मकान में जा बसीं।

इतनी बातें लिखने का मतलब उस आधारशिला की ओर इंगित करना है, जिस पर विनोद का जीवन, अनेक अंशों में, खड़ा था। इससे उस अन्तःसलिला के स्रोत की झांकी भी मिल जाती है, जिससे उनका अन्तर सिञ्चित एवं रसार्द्र है।

साहित्यिक प्रवृत्तियां

मैंने उनके जीवन की आन्तरिक रेखाओं का एक मानचित्र दे दिया है कि उन्हें समझने में आसानी हो। परन्तु ये अन्तरंग बातें हैं। दूर के मित्रों अथवा हिन्दी के पाठकों के साथ उनका जो सम्बन्ध है वह मुख्यतः साहित्यकार या लेखक के रूप में है। मैं पहले बता चुका हूं कि लिखने और अपने को छपाने या अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति उनमें किशोरावस्था के आरम्भ से ही थी। वस्तुतः उसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी। इनके दादा तो थे पं० भवानीशंकर परन्तु इन भवानीशंकर के भाई पं० रामशंकर व्यास को कोई सन्तान न थी और वह इनके पिता पं० कालीशंकर को ही अपना पुत्र मानते थे। यहां तक कि विनोद बहुत काल तक, उन्हें ही अपना सगा दादा समझते रहे। असलियत मालूम होने पर भी पूर्वश्रद्धा बनी रही।

यह पं० रामशंकर व्यास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्रों में थे। उन्हीं ने हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' उपाधि देने का पहले पहल प्रस्ताव किया था। व्रजभाषा में अच्छी कविता करते थे; व्यंग-हास्य भी अच्छा लिखते थे। उनकी लिखी 'बात की करामात' पुस्तक उन दिनों लोकप्रिय हुई थी। भारतेन्दु के देहावसान के बाद इन्होंने 'चन्द्रास्त' लिखा। मित्रों द्वारा उनसे भारतेन्दु का

जीवन चरित्र लिखने का भी अनुरोध किया गया था परन्तु उन्होंने इसलिए उसे नहीं लिखा कि वह भारतेन्दु के जीवन की अनेक भली-बुरी और गोपनीय रहस्य की बातें जानते थे जिन्हें उद्घाटित करना उन्हें उचित नहीं प्रतीत होता था और बिना उनके लिखे जीवनी विश्वसनीय नहीं हो सकती थी। रामशंकर जी अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे : अंग्रेज़ी, संस्कृत, बंगला, उर्दू, फारसी और गुजराती पर उनका अच्छा अधिकार था पर उनका जीवन मुख्यतः एक इस्टेट की मैनेजरी और रईसी में ही बीता। उनकी रईसी का ही विकृत रूप विनोद में आया था।

विनोद के पिता पं० कालीशंकर व्यास भी यशस्वी लेखक, कवि तथा पत्रकार थे। वह धाराप्रवाह अंग्रेज़ी बोलते थे। उनकी बड़ी इच्छा थी इंग्लैण्ड जाकर अध्ययन करने की परन्तु घर के लोगों की ज़बरदस्ती के कारण वह संभव न हो सका। उन्हें साहित्य-सेवा का भी व्यसन था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविता करते थे। उन दिनों (१८९९ ई०) के 'रसिकमित्र' में उनकी समस्यापूर्तियां प्रायः प्रकाशित होती रहती थीं। एक उदाहरण लीजिए :

नेह निबाहने में दृढ़ हौहु, नहीं
अपनाय के फेर दुराइये।
मानिये जाको हितू अपनो तुम्हें
प्रानहु तें बढ़ि नेह जताइये।
राखिये वासों न भेद कछू,
मन की सिगरी बतियां बतराइये।
सींचिये प्रेम को बेल सदा,
अरु चूक कछूक पै नेकु न आइये।

बाद में (१९०५-६ ई०) में 'सरस्वती' में खड़ी बोली की कविताएं भी छपने लगीं। परन्तु इन स्फुट कार्यों से तृप्ति न होती थी। इसलिए गुरुजनों एवं मित्रों की सलाह पर इन्होंने स्वयं ही एक पत्र निकालने का निश्चय किया।

स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यास अपने समय में 'पीयूष-प्रवाह' नाम का एक पत्र निकालते थे किन्तु उनके बाद वह बन्द हो गया था। उसे पुनर्जीवित करने का निश्चय हुआ। १९०६ ई० में वह निकला और बहुत अच्छा निकला। कागज़, मुद्रण, गेट-अप, विषय सब दृष्टियों से यह एक बहुत अच्छा पत्र था और 'सरस्वती' से टक्कर लेता था। मेरे समय में काशी में एक थे पं० बसंतराम व्यास। वह पुरानी मुद्रित तथा हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह करके उन्हें बेचा करते थे। नीची बाग में उन्होंने एक छोटी दुकान भी खोली थी। उन्होंने मुझे हरिश्चन्द्र मैगज़ीन तथा पीयूष प्रवाह की फाइल दी थी। मैं विनोद के साथ परिचय होने के बहुत पहले से पं० कालीशंकर के प्रति श्रद्धावान था। दुःख है, 'पीयूष-प्रवाह' अधिक दिन न चल सका। भरी जवानी में व्यास जी का देहान्त हो गया।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि विनोद के मन में साहित्य के प्रति जो

अभिरुचि थी, उसके पीछे पितामह और पिता की लम्बी परम्परा थी। दूसरी बात यह कि बचपन से ही कुतूहल की ओर उनके मन में बड़ा आकर्षण था। इस विषय में मेरा भी आरम्भ किस्से-कहानियों और उपन्यासों से हुआ। हम लोगों का मन तिलिस्मी और ऐयारी पुस्तकें पढ़कर आश्चर्य से अभिभूत हो जाता था। मैं तो यहां तक अभिभूत हो गया था कि राजघाट के खण्डहरों में सुरंग, ऐयारी बटुवे और लखलखे की खोज में घूमा करता। यही हाल विनोद का भी था परन्तु मेरे मस्तिष्क का वह बचपन स्वभावतः कुछ समय बाद, प्रौढ़ होने पर समाप्त हो गया। यहां तक कि आज अच्छा-से-अच्छा उपन्यास पढ़ने को मन नहीं उभरता। पढ़ना ही पड़े तो मुश्किल से पढ़ पाता हूं। इसीलिए कहानी या उपन्यास लिखने की ओर कभी प्रवृत्ति न हुई—यद्यपि मेरे अनेक शब्दचित्रों में उसके प्रायः सब तत्त्व मिल जाते हैं। विनोद के मन का ढांचा इससे जुदा किस्म का था; वह कहानी, उपन्यास की ओर उन्मुख हुए और उसमें इस तरह डूबें कि डूबते ही चले गये। उन्हें कथा-कहानी पढ़ने और लिखने दोनों में जो सुखानुभूति हुई, वह जन्म-भर बनी रही।

शुरू-शुरू में विनोद को किसी की रचना छपी देख आश्चर्य होता था, जैसे वह कोई बहुत बड़ी उपलब्धि हो। मेरी रचनाएं उनसे पहले छपने लगी थीं। इससे उन्हें अचरज होता और वह पूछा करते थे कि कहां किसको किस तरह रचना भेजी जाय कि सफलता प्राप्त हो। 'महिला-दर्पण' (छपरा) में ही पहली बार उनकी एक रचना छपी थी।

उनके साहित्यिक जीवन का परिशोधन तथा परिमार्जन तो तब शुरू हुआ, जब 'प्रसाद' से उनका परिचय हो गया और घनिष्ठता बढ़ी। इस परिचय के आरम्भ काल में विनोद की आर्थिक अवस्था अच्छी न थी परन्तु बिना परवाह के वह अपने पुराने ही ढर्रे पर कायम थे। मेरे बाद 'उग्र' से भी उनकी घनिष्ठता हो चली थी। दोनों, कई बातों में, एक-से थे—सिवाय इसके कि 'उग्र' में आत्माभिमान ज़्यादा था और उनमें साहित्यिक प्रतिभा भी अधिक थी। 'उग्र' में क्रान्तिकारी मनस्विता थी। वह आन्दोलनकारी भी थे। उनका रास्ता बीहड़ों में भटकने का रास्ता था; जेल, जुर्माना उनकी खुराक थी, जबकि विनोद रियासती ज़िन्दगी के अभ्यस्त थे। इसीलिए स्नेह रहते हुए भी बाद में दोनों की राह जुदा-जुदा हो गयी।

खाना–उड़ाना, नशा-पानी, गहरेबाज़ी, कबूतरबाज़ी, गाना-बजाना; मतलब बुरी-भली हर सामन्ती परम्परा से ग्रस्त, ऊपर से खुश और दरियादिल पर अन्दर से फटेहाल, बाप-दादा की कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाले और शौकिया लिखने वाले विनोद जब 'प्रसाद' जी के संसर्ग में आये तो काफी परेशान थे; जीवन की कोई दिशा न थी; अपने पर कोई नियन्त्रण न था; आगे-पीछे कोई कहने-सुनने वाला न था। 'प्रसाद'जी साहित्यकार के रूप में तो महत् थे ही, परन्तु मानव-निर्माता के रूप में उससे भी महान थे। वह कर्ज़ से लदे थे और सामन्ती जीवन-

प्रणाली में खुद पले होने के कारण उसके दूषणों से परिचित थे। उन्होंने संघर्ष करके अपना रास्ता बनाया था। इसलिए उन्हें एक खानदानी, होनहार नवयुवक की निराशाजनक स्थिति से बड़ा दुःख हुआ। 'प्रसाद' भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली के भी भक्त थे, इसलिए भी उन्हें विनोद के दादा और पिता की याद थी। प्रसाद और विनोद दोनों के परिवारों का जौनपुर से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। इसलिए 'प्रसाद' ने खुले हृदय से अपने यहां विनोद का स्वागत किया और उनकी जीवन-प्रणाली के नियमन तथा पारिवारिक समस्याओं के समाधान का भी यथासंभव प्रयत्न किया। विनोद भी प्रसाद की ओर अधिकाधिक आकर्षित होते गये; चुम्बक की भांति 'प्रसाद' ने उन्हें पकड़ लिया।

फिर तो रोज़ मिलना-जुलना होने लगा। 'प्रसाद' हिन्दी में लघुकथाओं के जनक थे। उनकी वैसी कहानियां हम लोगों के मानस पर छाई हुई थीं। इनमें भावनाओं का वेग था; अन्तर्दृष्टि भी थी। इनमें काव्य का वातावरण था। विनोद ने उनके अनुकरण पर वैसी ही कहानियां लिखनी शुरू कीं। 'प्रसाद' उनमें संशोधन करते। उनके इस्लाह से वे चमक उठतीं। धीरे-धीरे विनोद को इस प्रकार की कहानियां लिखने में अच्छी सिद्धि प्राप्त हो गयी।

एक बार उनकी दो-तीन कहानियों का तारतम्य मिलाकर प्रसाद ने उन्हें उपन्यास लिखने को कहा। १४ दिनों में, गांव पर स्वयंपाकी रहते हुए, विनोद ने उसे लिख डाला। इस तरह 'अशान्त' उपन्यास की रचना हुई। जीवन भी कुछ नियमित हो चला। विनोद ने प्रतिज्ञा की कि किसी भले घर की स्त्री की ओर दृष्टिपात नहीं करेंगे। तब से उनकी दिलचस्पी वारांगनाओं तक सीमित रह गयी।

इस स्थिति में दादा और पिता की लाइब्रेरी की पुस्तकों ने बड़ा काम किया। निरन्तर पठन-पाठन से उनकी बौद्धिक क्षमता दृढ़ होती गयी। एक ओर उनका अध्ययन, दूसरी ओर कथा तथा निबन्ध-लेखन और तीसरी ओर राग-रंग, सब नियमित रूप से साथ-साथ चलता रहा। बीच में एक बार साप्ताहिक 'आज' तथा दिल्ली से निकलने वाली मासिकी 'छाया' का सम्पादन भी किया परन्तु वे सम्बन्ध स्थायी नहीं हुए। वंश-परम्परा के अनुसार कुछ दिन इस्टेट की मैनेजरी भी की, परन्तु इस तरह का काम उनकी रुचि के अनुकूल न होने से वह बहुत थोड़े समय तक चल सका।

•

साहित्यकार के रूप में विनोद ने कहानियां, उपन्यास, निबन्ध, संस्मरण इत्यादि लिखे हैं। परन्तु उनकी ख्याति उनकी कहानियों के कारण ही है। छोटी-छोटी भावनापूर्ण कहानियां लिखने में उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। चूंकि जीवन के बहुविध रूपों को उन्होंने स्वयं देखा था, और जिसे देखा उसे दूर तक और बड़ी गहराई से देखा था, इसलिए उनमें चरित्र का जीवित स्पर्श है; एक करुणा है, जो अपने को हर तरफ से उलट-पुलटकर देखती और दुनिया का हर एक पहलू

दिखाती चलती है। शरतचन्द्र की भांति विनोद में भी परित्यक्ता एवं दिशाहारा रमणियों के लिए गहरी संवेदनाएं थीं। जब समाज ने, दुनिया ने, राजपथ पर चलते हुए, उन्हें धक्का देकर हटा दिया तो इन्हीं दुर्विदग्ध रमणियों से उन्हें सहानुभूति और आश्रय मिला था। इसलिए उन सामाजिक दृष्टि से पतिता एवं अस्पृश्या नारियों में उन्होंने उच्च मानवीय प्रेरणाओं के दर्शन किये थे। यही चीज़ थी जिसने उन्हें उन गलियों का फकीर बनाकर भी उसी में अपने को समाप्त नहीं होने दिया। जीवन में जब उन्होंने इतना स्थान घेरा था, विनोद को ढेर की ढेर सहानुभूति दी थी, प्रेम न भी कहें उसे, तो चाहत की चाशनी चखाई थी, तो वे, स्वभावतः ही, उनके साहित्य में भी नारी के चिरन्तन समर्पण के साथ जीवित हैं। इनकी कहानियों का प्रथम संकलन पुस्तक-भण्डार, लहेरिया सराय से ही निकला था और पहला 'अशान्त' उपन्यास भी वहीं से निकला। कहानियों का प्रथम संकलन था 'नवपल्लव', दूसरा था 'तूलिका'। फिर तो 'नक्षत्रलोक' आदि, कहानियों के कई संकलन निकले। एक ज़माने में इन कहानियों की घूम थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी के प्रोफेसर साहनी साहब ने लिखा था : I have no hesitation in saying that he is by far the greatest lyrical short story writer in India today. अर्थात् 'मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि इस समय वह भारत के सबसे बड़े गीति-लघुकथाकार हैं।' प्रसाद, प्रेमचन्द, ज्वालादत्त शर्मा, कौशिक इत्यादि ने भी उनकी कहानियों की बड़ी प्रशंसा की है। 'मधुकरी' के नाम से उन्होंने हिन्दी कहानियों का जो संकलन प्रकाशित किया था, उसकी जोड़ का दूसरा संकलन हिन्दी में निकला नहीं। क्या सामग्री, क्या मुद्रण और गेटअप में वह अनूठा था।

किन्तु कहानियों को छोड़कर भी विनोद का लिखा साहित्य, काफी विस्तृत है। उन्होंने अपने अध्ययन के फलस्वरूप युरोपीय साहित्य, युरोपीय साहित्यकार, युरोपीय उपन्यास-साहित्य, प्रसाद और उनका साहित्य जैसे समीक्षात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी को दिये हैं। उन्होंने 'कहानी कला' और 'उपन्यास कला' नाम की पुस्तकें लिखकर इन विधाओं को अपनानेवालों का मार्गदर्शन किया है। कई संस्मरणात्मक पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं। इन संस्मरणों में उनका वास्तविक रूप खुलकर सामने आया है। बुरा-भला जहां-जो देखा है, उसे उसी रूप में लिख दिया है; जो रूप उनकी समझ या पहली नज़र में आया। उन्होंने बार-बार 'प्रसाद' को अपना गुरु लिखा है, किन्तु गुरु-दक्षिणा चुकाते समय शनि की भांति, उन्हें भी नहीं बख्शा है।

जैसे उनके अनुराग की कहानी है वैसे ही उनके विराग की भी कहानी है। उत्तर जीवन में 'प्रसाद' से उनके सम्बन्ध उतने मधुर नहीं रह गये थे। बात यह थी कि 'प्रसाद' जी की सम्मति एवं स्वीकृति से ही विनोद ने पुस्तक-मंदिर नामक प्रकाशन-संस्था का आरम्भ किया था। पुराने दिनों में 'प्रसाद' अपनी रचनाओं के लिए कोई पारिश्रमिक अंगीकार न करते थे और मेरा उनसे इस विषय पर बड़ा

मतभेद था। अक्सर बहस हो जाती थी। अन्त में उन्होंने अपने रुख में परिवर्तन किया था। उनकी पुस्तकें पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय, साहित्य-सदन चिरगांव, साहित्यरत्न माला कार्यालय वाराणसी से निकली थीं। इसी बीच विनोद ने उनकी सलाह से अपनी उक्त प्रकाशन-संस्था खोली थी। उनका विचार था कि उनकी अपनी तथा प्रसाद जी की सब पुस्तकें वहीं से प्रकाशित हों। विनोद को किसी शुभकार्य में लगाने की प्रेरणा से दीप्त प्रसाद ने दबी ज़बान से वह बात मान ली थी। कुछ काम आगे भी बढ़ा परन्तु इसी बीच राय कृष्णदास ने ज़ोर देकर भारती भण्डार के लिए उनकी रचनाओं का प्रकाशनाधिकार ले लिया। राय साहब और प्रसाद में बाल मैत्री थी और बीच बीच में चाहे कुछ शिथिलता आई हो परन्तु वह आजीवन अटूट रही। प्रसाद, राय साहब का अनुरोध अमान्य नहीं कर सकते थे। बाद में भारती भण्डार लीडर प्रेस का एक अंग बन गया और 'प्रसाद' को नियमित रायल्टी मिलने लगी। विनोद ने यह अर्थ निकाला कि 'प्रसाद' ने वणिक वृत्ति से काम लिया और अपना लाभ देखा परन्तु मेरा कुछ खयाल नहीं किया। उनका कहना था कि उनके आश्वासन के कारण मेरी गहरी हानि हुई। विनोद बड़े नाराज़ थे, जो उनकी स्थितिवाले आदमी के लिए स्वाभाविक था, क्योंकि उन्होंने इस कार्य में अपनी अधिकांश पूंजी लगा दी थी। परन्तु विनोद औचित्य की सीमा से बाहर चले गये; उनसे बोलना, चालना-मिलना-जुलना भी छोड़ दिया। पैसा मित्रता से अधिक मूल्यवान और प्रभावशाली निकला। उन्होंने मर्यादा लांघकर 'प्रसाद' के सम्बन्ध में गलत निष्कर्षों का प्रचार किया।

विनोद प्रसाद को गुरु मानते थे। साहित्य में, बल्कि मानव के रूप में भी विनोद जो कुछ थे, प्रसाद का ही निर्माण थे; प्रसाद की ही देन थे। युगों तक वह 'प्रसाद' के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे थे किन्तु, मैं कहूंगा, उन्होंने प्रसाद को समझा नहीं था। और वह इस धक्के से ऐसे नाराज़ हुए कि कितनी ही गलत-सलत बातें लिख गये और उनके जीवन की कितनी ही घटनाओं की भ्रमात्मक व्याख्या करके अच्छी गुरुदक्षिणा चुकाई। परन्तु प्रसाद तो उथले नहीं, उदधि-गम्भीर व्यक्ति थे। वह अन्त तक विनोद के सच्चे हितैषी रहे और दोनों के बीच जो गलतफहमी आ गयी थी, उसे दूर भी करना चाहते थे। परन्तु विनोद तो ऐसे उखड़े थे कि इस विषय पर उनसे बात ही नहीं करना चाहते थे। 'प्रसाद' जब मरण-शय्या पर पड़े थे, तब भी उन्होंने विनोद से कहा था :

"प्रेमचन्द चले गये; मैं भी जा रहा हूं। अब भी तुम अपना कर्तव्य नहीं समझ रहे हो।"

•

हमारी न जाने कितनी संध्याएं विनोद के मानमंदिर वाले मकान की तीसरी मंज़िल की छत पर बीती हैं—गाना-बजाना, कविता-पाठ, खाना-पीना हुआ है; गप-शप में समय बीता है। रूपनारायण पाण्डेय, निराला, उग्र इत्यादि के साथ कितनी ही चर्चाएं हुई हैं। काशी से बाहर चले जाने के कारण वह सम्पर्क

परम्परा टूट गयी। उनके उत्तर जीवन-काल में मैं वाराणसी से दूर रहने के कारण उनके नये मकान को देख न पाया। 'प्रसाद' के सम्बन्ध में सामग्री संकलित करने के विषय में एक बार चिट्ठी-पत्री हुई थी। उनका प्रेमल छोटा भाई प्रमोद आज न जाने कहां है, कैसा है! उनके दो लड़के थे; पता नहीं, वे क्या कर रहे हैं। लड़कियां तो ब्याह के बाद अपने घर चली गयी होंगी।[1]

विनोद १९०४ ई० की दीपावली की रात में जन्मे थे। उत्तर काल में बीमारी का एक गहरा झटका उनको लगा था परन्तु उसे पार कर गये थे; स्वस्थ हो गये थे। अकस्मात् एक दिन अखबार में पढ़ा कि २७ जुलाई १९६६ को उनका देहान्त हो गया। अपने भेलूपुर वाले नये मकान में वह अचानक गिर पड़े और उनकी हृद्‌गति बन्द हो गयी। केवल ६२ वर्ष की अवस्था में वह चले गये।

उनमें अनेक विशेषताएं थीं और दुर्बलताएं तथा दोष भी अनेक थे परन्तु वह एक निश्छल, सरल, प्रेमल इंसान थे—ऐसे इंसान, जो इस ज़माने में क्वचित् ही दिखाई पड़ते हैं।

१. एक मित्र के पत्र से मालूम हुआ हैं कि प्रमोद काशी में ही हैं और विनोद के दोनों लड़के प्रेमू और हेमू भी वहीं अध्यापन करते हैं। काल की गति कि स्कूल से भागने वाले पिता के पुत्र स्कूल में पढ़ाते हैं।

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

परिचय

१९२५ ई० के आसपास का समय होगा, जब मैंने भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'[1] को पहली बार बनारस में देखा था। वह जनार्दन ('द्विज') के पास आये थे। उन दिनों दोनों ही कमच्छा में रहते थे; दोनों बिहार के थे। जनार्दन वाग्मिता के अवतार थे; काशी विश्वविद्यालय के छात्रों में उस समय उस कोटि का अंग्रेज़ी या हिन्दी वक्ता दूसरा न था; भुवनेश्वर मौन के साधक। बिखरे बाल, नाई-कंघी-तेल से जिनका कोई वास्ता नहीं, हाथ का धुला खादी का कुर्ता-धोती, घिसी-पिटी चप्पल, परन्तु किसी दूरागत स्वप्न में डूबी-डूबी-सी आंखें। हम जिन युवकों पर कविता का नशा चढ़ा हुआ था, उनमें माधव भी थे। परन्तु उनमें एक अद्भुत निश्छल सरलता, एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति और खोज थी और वही समय एवं अनुकूल वातावरण पाकर आगे पल्लवित हुई।

फिर तो शुकदेव (वीरात्मा, जो बाद में नागपुर एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए और जो हिन्दी के दूसरे संत अध्यापक हैं और कहीं भोपाल में रह रहे हैं), बेनीपुरी और सुधांशु के साथ भी कई बार देखा। मेरे प्रति उनका खिंचाव गहरा होता गया। आजीवन मुझ पर उनकी अनुरक्ति रही और मेरी प्रत्येक रचना के प्रति न जाने कितने प्रशंसात्मक शब्द हैं, जो उनके हृदय की सरलता, सरसता और उदारता के द्योतक हैं। 'माधुरी' में उन्होंने मेरी छोटी-सी पुस्तक 'घर की रानी' पर एक बड़ा लेख ही प्रकाशित कराया। फिर तो गोरखपुर, रतनगढ़ और वर्धा में उनसे मेरी भेंट हुई परन्तु वह अन्दर से इतने रसार्द्र थे कि मिलने-न मिलने का उनपर विशेष प्रभाव न होता था। जो बन्धु थे वे अन्त तक, चाहे कहीं रहे, उनके बन्धु ही रहे। जनार्दन पर मेरा लेख जब 'ज्ञानोदय' में निकला तो उसे पढ़कर वह भाव-विभोर हो गये थे और मुझे एक लम्बा पत्र भेजा था। वह वाराणसी में रहे; वह कर्म-यज्ञ में वाराणसी से दूर भी रहे किन्तु वाराणसी के छात्र-जीवन और साहित्यिक-समाज को, तथा उस काल की मधुर स्मृतियों को वह कभी भूल न पाये।

जीवन-कथा

माधव जी का जन्म १९०७ ई० की सर्दियों में शाहाबाद, बिहार के एक गांव

---

१. जन्म : पौष १९६४ वि० (१९०७ ई०); मृत्यु : ३० दिसम्बर १९७२

मिश्रौली में हुआ था। इनके पिता पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त की ओर एक सैनिक ठेकेदार थे और खूब कमाई थी। इसलिए घर में नौकर-चाकर, गाय-बैल, सवारी तथा खाने-पीने की हर तरह की सुविधा थी। समय आने पर यह गांव की ही पाठशाला में भरती हुए। वहां इनके प्रथम गुरु हुए श्री अवधकुमार लाल श्रीवास्तव। यह बैरिया, बलिया के निवासी थे; पढ़ाने में बहुत अच्छे किन्तु गलती होने पर मारने में जल्लाद। यहां की पढ़ाई खत्म कर ३ मील दूर की अपर प्राइमरी पाठशाला में आये। कुसंगति से यहां बीड़ी पीने की आदत लगी, किन्तु मालूम होने पर स्कूल के हेड पण्डित राजा चौबे ने वह पिटाई की कि वह सदा के लिए छूट गयी।

मिडिल स्कूल से इनके जीवन में कुछ निखार आने लगा। वहां सेवा की वृत्ति उभरी; जब-तब स्वयंसेवक के रूप में काम करने लगे। भय लगने पर हनुमान-चालीसा और संकटमोचनाष्टक का पाठ करने की आदत पड़ी। हनुमान इनके प्रिय देवता बन गये। हाई स्कूल में गीता से परिचय हुआ। परिचय क्या हुआ, वह इनके जीवन की ढाल बन गयी। हाईस्कूल का प्रारम्भिक जीवन बड़े शान-शौकत का था। नौकर-चाकर, रसोइया, ट्यूटर सब थे। पढ़ने में भी बहुत अच्छे थे। आज के डा० देवराज उनके एक सहपाठी थे; पढ़ने में तेज़, किन्तु माधव उनसे भी आगे रहते थे।

अकस्मात् वज्रपात हुआ। पिता की मृत्यु हो गयी और उसके साथ ही सब सपने टूट गये। पिता द्वारा अर्जित विपुल सम्पत्ति बड़े चाचा ने हथिया ली और और इन्हें, विधवा माता-सहित, एक टूटा-फूटा रहने का घर देकर, अनाथ बनाकर अलग कर दिया। मां साधनहीना थी किन्तु उसने पुत्र को सान्त्वना दी कि भगवान दुःख के दिन दूर करेंगे। उसके बाद ही मैट्रिक का परीक्षाफल निकला। यह उत्तीर्ण थे। उन्हीं दिनों स्व० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' का एक सचित्र लेख 'काशी विश्व-विद्यालय' पर 'माधुरी' में निकला। संयोग से वह इन्हें पढ़ने को मिला। बस, इनके दिमाग में बैठ गया कि आगे पढ़ना है तो वहीं पढ़ना है। मां ने सुना तो प्रोत्साहित किया और अपना एकमात्र स्वर्णाभूषण गले की हंसली बेचकर उससे मिले अस्सी रुपये इनके हाथ पर रख दिये। बस, उसे ले यह काशी चले गए और विश्वविद्यालय में भरती हो गये। किंग एडवर्ड होस्टेल, कमच्छा, में रहने का प्रबन्ध हो गया। वहां कोटा के मथुरालाल शर्मा और लुधियाना (पंजाब) के लक्ष्मणस्वरूप इनके साथी थे। दोनों ने आगे चलकर शिक्षा-क्षेत्र में कीर्ति अर्जित की। मथुरा-लाल जी राजस्थान के शिक्षा-निदेशक हुए और लक्ष्मणस्वरूप जी नामी प्रोफ़ेसर। किंग एडवर्ड छात्रावास थियोसॉफिकल सोसाइटी के निकट होने के कारण इन्हें समय-समय पर एनीबेसेण्ट, उस काल में ज़बर्दस्ती विश्व-मसीहा बनाये जाने वाले (किन्तु बाद में समस्त शृंखलाओं को तोड़कर बाहर निकल आने वाले) जे० कृष्णमूर्ति, जिनराज दास, लेडविटर, भगवानदास जी और अरुण्डेल इत्यादि मनी-षियों के दर्शन-श्रवण का लाभ भी मिलता रहा। थियोसाफी के अनुयॉयियों की

सुरुचि और सौन्दर्यप्रियता का प्रभाव भी इन पर पड़ा।

किन्तु अर्थाभाव के कारण इनका छात्रजीवन कष्ट और तपस्या का जीवन था। मां के चांदी के गहने भी एक-एक करके बिकते गये। वह इन्हें थोड़े-बहुत पैसे भेजती रहीं। हिन्दू स्कूल के प्रधानाध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के एक जन्मदाता पं० रामनारायण मिश्र सदा ऐसे छात्रों को प्रोत्साहित करते रहते थे। उन्होंने इन्हें कुछ ट्यूशन दिला दिये। इससे थोड़ा सहारा हो गया। किन्तु ट्यूशन से भी इतना कम मिलता था कि बस, रूखा-सूखा खाने की व्यवस्था हो पाती थी। विश्वविद्यालय में अपने छात्र जीवन के ६ वर्ष इन्होंने बड़ी सादगी से बिताये। गर्म कोट, जूता, तेल, साबुन कुछ नहीं। भोजन हाथ से बना लेते थे। इनकी सादगी के कारण ही छात्रों में इनका नाम 'वैरागी जी' पड़ गया था।

उन दिनों वाराणसी की सारस्वत-साधना अपनी चरम सीमा पर थी। संस्कृत और हिन्दी के एक से एक विद्वान वहां एकत्र हो गये थे। मालवीय महाराज के आग्रह और अनुरोध से बड़े-बड़े मनीषी, स्वल्प वेतन पर, विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे। गांधी जी द्वारा भेजे गये आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव आचार्य और प्रो-वाइस चांसलर थे,—पुराने आई० ए० एस०, ज्ञान के विश्वकोश, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, संस्कृत, पाली, प्राकृत, गुजराती, मराठी के प्रकाण्ड पण्डित, राजनीति विज्ञान, दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, समाज शास्त्र, वैदिक साहित्य के पारंगत मनीषी। इंजीनियरिंग कालेज के प्रिंसिपल चार्ल्स ए० किंग, अपने विषय के निष्णात विद्वान, अपने छात्रों के लिए जान देने वाले, कट्टर शाकाहारी; विज्ञान-विभाग में सर शान्तिस्वरूप भटनागर, सर सी० वी० रमण, सर प्रफुल्लचन्द्र राय; राजनीति और अर्थशास्त्र में प्रो० गुरुमुख निहालसिंह (बाद में राजस्थान के गवर्नर), डा० ज्ञानचन्द, प्रो० कृपालानी, अंग्रेज़ी में पी० शेषाद्रि, प्रो० निक्सन (जो बाद में श्री कृष्णप्रेम के नाम से संन्यासी रूप में विख्यात हुए) और साहनी; प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रो० राखालदास बनर्जी (जो बाद में भारतीय आर्कियालाजिकल सर्वे विभाग के प्रधान हुए), अनन्त सदाशिव अल्टेकर, प्रो० पुण्ताम्बेकर, गणित में डाक्टर गणेशप्रसाद, दर्शन में प्रो० फणिभूषण अधिकारी, संस्कृत में पाणिनि से खम ठोंकने वाले पं० रामावतार शर्मा, महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, अपनी एक कहानी के लिए हिन्दी में अमर हो गये पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, महामहोपाध्याय पं० जयदेव मिश्र, महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र; पं० बटुकनाथ शर्मा (जो छोटी उम्र में छोटी बहिन के विधवा हो जाने के कारण आजन्म ब्रह्मचारी रहे और फ्रेंच, जर्मन, रशन, पोलिश, यहां तक कि पश्तो पर भी अधिकार स्थापित कर लिया था और जिन्होंने अपना विशाल तथा अमूल्य ग्रन्थ-भाण्डार विश्वविद्यालय को दान कर दिया था), धर्म-विभाग में श्री पाटणकर, अन्य विभागों में प्रो० ईनामदार, प्रो० राणे, प्रो० श्यामाचरण दे (जो तपस्या और ब्रह्मचर्य की मूर्ति थे और यूनिवर्सिटी से केवल एक रुपया मासिक लेते थे), पं० सत्यनारायण शास्त्री जैसे लब्धप्रतिष्ठ अध्यापकों-आचार्यों से विश्वविद्या-

लय धन्य हो रहा था। हिन्दी-विभाग तो एक ही था; उसमें श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लाला भगवानदीन और केशवचन्द्र मिश्र जैसे लोग थे। इन सबका सामूहिक प्रभाव भी वातावरण में था। माधव गुणग्राही विद्यार्थी थे। उन्होंने इनमें से बहुतों से लाभ उठाया। पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन की विद्या तथा पढ़ाने की शैली का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रसाद और निराला से भी भेंट होती रहती थी और इन्हीं दोनों का करिश्मा था कि बाद में रामचन्द्र शुक्ल को छायावादी काव्य के प्रति अपने पूर्व-विरोध में संशोधन करना पड़ा। उन्हीं दिनों की बात है कि उस समय विश्वविद्यालय के छात्र, स्व० नन्ददुलारे वाजपेयी (जो बाद में विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति हुए) के प्रयत्न से विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग हाल में एक महती सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने। माधव जी ने स्वयं ही उस सभा के सम्बन्ध में लिखा है :

"वक्ता थे निराला जी। वह सभा भी साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। निराला जी को पहले-पहल मैंने तभी, उस सभा में ही देखा था—क्या विशाल आर्य-वपु था ! सुन्दर सुडौल शरीर, वड़ी-वड़ी रहस्यमयी आंखें, नुकीली नाक, बल खाते हुए काकुल, विशाल वक्षस्थल, सुदृढ़ भुजदण्ड, अंगद के-से चरण—निराला जी सचमुच यथानाम तथारूप थे।···मेघ-मेदुर ध्वनि में उन्होंने आरम्भ में कुछ कहा, फिर हारमोनियम लेकर जो गाना शुरू किया, समां बंध गया। हम लोग ढाई-तीन घण्टे तक मन्त्रमुग्ध उनका आर्ष संगीत सुनते रहे—निश्चय 'आर्ष संगीत' ही कहा जा सकता है;—उषा ने कभी गायत्री का सस्वर पाठ किया होगा, तो क्या स्वर, लय, ताल, गमक, मूर्च्छना उमड़ी होगी—उसकी सहज कल्पना निराला जी के उस संगीत-स्वर से की जा सकती थी।···मुझे ठीक-ठीक स्मरण है, निराला जी ने प्रसाद जी के ही कुछ गीत गाकर सुनाये थे।··· शुक्ल जी पसीजे, बेहद पसीजे और बाद में तो 'एडमायरर' हो गये।"

हिन्दी के ऐसे निष्णात अध्यापकों के सत्संग से माधव कृतार्थ हो गये। शुक्ल जी की गंभीरता और पाण्डित्य तथा लाला भगवानदीन जी की चामत्कारिक अध्यापन-शैली को वह कभी भूल न पाये। उन्होंने स्वयं ही लिखा है : "लाला जी के पढ़ाने का ढंग निराला था। वह कभी कुरसी पर नहीं बैठते थे; खड़े होकर या टेबुल पर बैठकर, प्रायः रस में विभोर होकर, प्राचीन काव्य पढ़ाते थे। तैयार होकर आते थे। उनके जैसा 'टीचर' शायद ही दूसरा होगा। सादगी और बेतकल्लुफी में बेजोड़ थे। पाठ्यग्रन्थ पढ़ाने में एक ही थे; एक-एक पंक्ति, कभी-कभी एक-एक शब्द का सौन्दर्य बताते थे। उनके अक्षर बहुत सुन्दर और सुघर थे।···श्रृंगार-काव्य पढ़ाने में बड़ी रुचि और रस लेते थे। अलंकार और नायिका भेद का तो वैसा ज्ञाता और भाष्यकार हिन्दी में दूसरा हुआ नहीं। वह किसी बड़े से बड़े साहित्यकार या विद्वान की धौंस और गलती बर्दाश्त नहीं करते थे। गरीबी में जीवन बिताया किन्तु किसी के आगे झुके नहीं।"

बिहार के मनोरंजन प्रसाद सिंह की प्रतिभा का भी माधव पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। मनोरंजन बहुत सीनियर थे। इन्होंने हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में प्रथम श्रेणी में एम० ए० किया था; कुछ दिन विश्वविद्यालय में अध्यापक भी रहे। बाद में राजेन्द्र कालेज छपरा के प्राचार्य हुए। इनकी कविता 'फिरंगिया' ने एक ज़माने में बड़ा तहलका मचाया था। मुजफ्फरपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन अधिवेशन में गाया, इनका स्वागत-गान आज भी मेरे कानों में गूंज-गूंज उठता है। बिहार के ही द्विज, सुधांशु, अमरेन्द्रनारायण, मंगलप्रसाद सिंह (बाद में वाणी-मन्दिर छपरा के संचालक और बिहार के द्विज आदि नवयुवक कवियों के आदि प्रकाशक) इत्यादि से भी वह प्रभावित हुए। अन्य लोगों में पं० लालजीराम शुक्ल, (हिन्दी में मनोविज्ञान के प्रसिद्ध लेखक तथा मनोचिकित्सक), स्व० चन्द्रवली पांडेय (हिन्दी की लड़ाई के एक सेनापति, बाद में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति), इत्यादि के सम्पर्क से भी इन्होंने बहुत-कुछ सीखा और पाया। लालाजीराम शुक्ल के सत्संग में इन्होंने स्वामी रामतीर्थ का साहित्य पढ़ा। फिर तो वह राम बादशाह (स्वामी जी अपने को यही कहते थे) के दीवाने हो गये। जीवन में स्वामी रामतीर्थ और स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी का प्रभाव वह सबसे अधिक अनुभव करते थे। स्वामी राम के प्रभाव से इनमें गहरी आध्यात्मिक दृष्टि और सदा प्रसन्न और मस्त रहने की वृत्ति का विकास हुआ; गणेश जी से, एकलव्य की भांति, इन्होंने पत्रकारिता की दीक्षा ग्रहण की। विनयमोहन या वीरात्मा के साथ रहकर कविता लिखने का चस्का पैदा हुआ; लाला भगवानदीन; पं० रामचन्द्र शुक्ल और बटुकनाथ शर्मा से इन्होंने अध्यापन की कला सीखी।

बी० ए० तक हिन्दी पढ़कर इन्होंने एम० ए० में अंग्रेज़ी ले ली। कमच्छा में रहते हुए गंगास्नान का शौक लगा था; वह बराबर बना रहा, बल्कि अन्तिम वर्षों में नगवा में रहते हुए एक नशे के रूप में बदल गया, क्योंकि यहां प्रो० निक्सन (बाद के स्वामी श्री कृष्णप्रेम) इस कार्य में उनके साथी, बल्कि अगुवा, थे। वह दोनों समय गंगास्नान करते थे; प्रायः आर-पार तैरते भी थे। तैरते समय 'हरे राम हरे कृष्ण' मन्त्र का जप करते रहते। शिवप्रसाद गुप्त के सेवा-उपवन के सामने डा० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती के 'राधा-निवास' में उन्हींके परिवार के एक सदस्य की भांति रहते थे। प्रायः ७ फुट लम्बे, गौरवर्ण, दीप्त आंखें, कटिचुम्बी केश, भगवा वस्त्र, मस्तक पर गौड़ीय वैष्णवों का गोपीचन्दन का तिलक, गले में तुलसी की कण्ठी और हाथ में जप की माला, भक्तिमयी साधना की साक्षात् मूर्ति-से लगते थे। बाद में तो वीतरागी होकर उन्होंने संसार का त्याग ही कर दिया और अलमोड़ा ज़िले के अन्तरंग भाग में आश्रम बनाकर रहते थे; अब तो उन्होंने शरीर छोड़ दिया है। पर उन दिनों बहुत-से लोगों पर, विशेषतः माधव जी पर उनकी भक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा था और आजीवन दोनों का सम्पर्क एवं सौहार्द्र बना रहा।

माधव जी छात्रजीवन में ही भावानुभूति-प्रवण होने लगे थे। कविता का

नशा तो था ही, कभी-कभी अन्तश्चेतना के गहन स्तरों में चले जाते। एक बार की बात है कि काशी विश्वविद्यालय के विशाल हाल में काशी-निवासी प्रसिद्ध थियोसफ़ी नेता उपेन्द्रनाथ बसु का वीणावादन हुआ। उसे सुनकर माधव जी वहीं बेहोश हो गये। किसी तरह उठाकर डेरे पर लाये गये; वहां ३-४ दिनों तक संज्ञा-शून्य रहे और भावलोक में महारास देखते रहे। डाक्टर-वैद्य आये किन्तु उन्हें न छेड़ने का आदेश देकर लौट गये। पांचवें दिन पूरी तरह होश आया। उसके बाद भी बहुत दिनों तक पूर्णिमा का चांद देख मूर्च्छना की-सी अवस्था आ जाती।

एम० ए० में इन्होंने अंग्रेज़ी ले ली। शेषाद्रि पढ़ाते थे। दूसरे साल डा० यू० सी० नाग पढ़ाने लगे। पढ़ाते-पढ़ाते वह विभोर हो जाते और विद्यार्थियों को भी विभोर कर देते। एक बार उन्होंने फ्रांसिस टामसन की कविता 'दि हाउण्ड आफ दि हेवन' पढ़ाई, जिसका माधव जी के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इस कविता का भाव यह है कि मनुष्य भाग रहा है और भगवान उसका पीछा कर रहे हैं। भागते-भागते, अन्त में, मनुष्य थककर गिर जाता है और भगवान उसे पकड़ लेते हैं और कहते हैं : 'नादान, दुर्बल मानव ! मैं तो वही हूं जिसे तू खोज रहा था—तू तो मुझसे, अपने प्रियतम से ही दूर भागा जा रहा था।' इस तरह मनुष्य नहीं, भागवती कृपा ही उसे अपनी क्रोड़ में खींच लेती है। इसमें सर्वग्राही भागवती करुणा की महिमा का गान है। कवि टामसन एक अभागा, विक्षिप्त, युवक था। वह लन्दन की गलियों में, नंगे पांव, घूमा करता था। म्युनिसिपैलिटी के कूड़ापात्र से कागज़ की चिन्दियां निकालकर उनपर उसने यह कविता लिखी थी। 'हारे को हरिनाम' उसका मन्त्र था। स्वभावतः कविता ने तरुण माधव की कल्पना और अनुभूति को झकझोर कर रख दिया।

१६३० में एम० ए० करने के बाद घर लौटे तो गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन की आंधी में आ पड़े। सत्याग्रह के दीवानों की टोली गांव-गांव में घूम रही थी। उन्हींमें शरीक हो गये। फकीरों का बाना। कहीं कुछ रूखा-सूखा मिल गया तो पेट में डाल लिया और रात गये कहीं पुआल पर पड़ गये। इनकी गिरफ्तारी के लिए वारण्ट निकला और इन्हें पता लग गया। बड़े-बड़े बाल तो थे ही, इन्होंने संन्यासी का वेश बनाया, गेरुआ पहना, पांव में खड़ाऊं और हाथ में चिमटा तथा कमण्डल, शरीर में भस्म लपेटे, बिहार से खिसक गये और पहुंच गये मिर्ज़ापुर, महादेवप्रसाद सेठ के घर। उस ज़माने में 'मतवाला' कलकत्ते से मिर्ज़ापुर आ गया था और इनके पूर्वपरिचित नन्दकिशोर तिवारी उसके सम्पादक थे। महादेव बाबू ने इनकी सब व्यवस्था कर दी। बीच-बीच में वेश बदलकर आरा भी हो आया करते थे। परन्तु इस प्रकार के छद्मजीवन में बड़ी विडम्बना थी; मित्रों में गलतफहमियां भी फैल रही थीं। इसलिए यह स्वयं जाकर ज़िला मजिस्ट्रेट की कचहरी में हाज़िर हो गये। इन्हें बक्सर सेण्ट्रल जेल में रखा गया। वहां मौज ही मौज थी। खाने-पीने का तो बहुत ही आराम था : सुबह ८ बजे टोस्ट, मक्खन, नमकीन, गुलाबजामुन और चाय। दोपहर डेढ़ बजे घी-चुपड़ी चपातियां, बढ़िया

बासमती चावल, दो सब्ज़ियां, सूप, चटनी, दही, पापड़। शाम ४ बजे चाय-बिस्कुट। रात ९ बजे 'डिनर' में खीर और बढ़िया भोजन। अण्डरट्रायल थे, इसलिए कुछ काम तो था नहीं। हां, ताश-शतरंज जमता। यहां योगासनों में भी दिलचस्पी हुई। छ: महीने बाद छोड़ दिये गये।

बाहर आये। सत्याग्रह तो चल ही रहा था। कर-बन्दी के आन्दोलन में पड़ गये। फिर पकड़े गये। छः मास की सज़ा और दो मास की सज़ा जुर्माने के बदले। इस बार इन्होंने सामान्य कैदी का जीवन अंगीकार किया। चक्की चलाई; रसोईघर में काम किया। साथ-साथ ड्रिल और कबड्डी में भाग लेते। समय काफी मिलता था, इसलिए अध्ययन भी खूब किया। गीता रहस्य, दासबोध, ज्ञानेश्वरी, रामचरितमानस, विनयपत्रिका तथा गीता को ध्यान से पढ़ा। फुलवारी शरीफ के इस कैम्पजेल में बक्सर जेल के मज़े तो न थे, फिर भी जीवन अच्छे और उपयोगी कार्यों में बीतता रहा।

गणेश जी ने इस एकलव्य में एक अच्छा सम्पादक बनने की हौंस तो पैदा कर ही दी थी, इसलिए सम्पादन-कार्य के लिए इनमें बड़ी उत्सुकता थी। नन्दकिशोर तिवारी उन दिनों इलाहाबाद से निकलनेवाले 'चांद' में थे; बस, यह भी इलाहाबाद जा पहुंचे। 'चांद' और 'भविष्य' के संचालक स्व० रामरिखसिंह सहगल ने इन्हें सम्पादकीय विभाग में रख लिया। इनके ज़िम्मे 'सम्पादकीय' लिखने का काम था। उन्हीं दिनों 'भविष्य' में सम्पादकीय लेख निकला 'गोलमेज़ का जनाज़ा', यद्यपि लन्दन की गोलमेज़ कान्फरेंस समाप्त नहीं हुई थी। यह लेख लिखा था किसी और ने परन्तु सम्पादक के स्थान पर नाम रहने के कारण 'माधव' गिरफ्तार कर लिये गये और इलाहाबाद के मलाका जेल में बन्द कर दिये गये। यह जेल अपनी भयंकर कठोरता एवं नारकीय यन्त्रणाओं के लिए उस समय प्रसिद्ध थी। एक-से-एक शातिर बदमाश और भयंकर अपराधी इसमें थे। १५०-२०० छंटे कैदी रहे होंगे। इन्हीं के बीच कोमल प्रकृति माधव जी रहते थे, 'जिमि दशनन महं जीभ बिचारी।' ईंटों का मिट्टीपुता एक ढूहा सोने के लिए इस्तेमाल किया जाता था; बिछाने के लिए मूंज की एक चटाई, उसपर एक खुरदुरा कम्बल। लोहे के दो तसले, एक छोटा, एक कुछ बड़ा। मूंज की रस्सी बटने का काम। ३०० गज प्रतिदिन। हाथ में फफोले पड़ गये। दिन को जो भात मिलता उसमें कीड़े दिखाई देते, दाल के नाम पर नमकीन पानी, मोथे का उबला शाक और इमली की चटनी; शाम को ३ रोटियां जिनमें रेत और कंकड़ होते। स्पष्टत: यह ऐसा भोजन न कर पाते थे, इसलिए ६ मास तक भिगोये चने और नमक पर ही रह गये।

यह भी भाग्य की विडम्बना थी कि गणेश जी के 'प्रताप' में काम करने का सपना लेकर, उन्हीं के आदेशानुसार करांची कांग्रेस में उनसे मिलने के लिए गये थे। वहां पहुंचकर सुना कि गणेश जी तो कानपुर के दंगे में काम आ गये। इनके सपने धूल में मिल गये। वहां से कानपुर होते प्रयाग आये तो यहां 'भविष्य' के

कारण सिर मुंड़ाते ही ओले पड़े। मलाका जेल में यह १२४'अ' राजद्रोह के 'अंडर ट्रायल' प्रिज़नर की तरह रहे। इनपर जो मुकदमा चला उसमें पं० कन्हैयालाल मिश्र तथा पं० अम्बिकाप्रसाद पाण्डेय जैसे प्रसिद्ध वकीलों ने इनकी सहायता की और बिना फीस लिये इनके मुकदमे की पैरवी की। यह ज़मानत पर छूट गये। उन्हीं दिनों पटना में राजेन्द्र बाबू से मिलना हुआ और उनकी सलाह पर इन्होंने जो सच्चाई थी वह कह दी। इन्होंने बयान दिया कि लेख उनका लिखा तो नहीं है परन्तु जिसका लिखा है, उसका नाम न बताकर जो सज़ा उन्हें दी जायगी उसे वह भुगतने को तैयार हैं। महीनों की परेशानी के बाद, वह निर्दोष सिद्ध हुए और छोड़ दिये गये। केस सहगल जी पर चला और उनको ढाई वर्ष का कारावास तथा सात हज़ार जुर्माने की सज़ा मिली।

जेल से तो छूट गये, किन्तु पास में एक पैसा भी न था; घर तक पहुंचने के लिए भी नहीं। हिन्दी के कवि और लेखक श्री प्रफुल्लचन्द्र 'मुक्त' के पिता, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री उन दिनों प्रयाग में रहते थे। शास्त्री जी गम्भीर विद्वान, संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ और बड़े स्वच्छ हृदय के व्यक्ति थे। दो टूक बात कहने में किसी से डरते न थे। मैंने उन्हें श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास जी टंडन तक से लोहा लेते देखा है। सच्चे ब्राह्मण थे। इस अवसर पर उन्होंने 'माधव' जी की सहायता की और टिकट इत्यादि का प्रबन्ध कर दिया। किसी तरह घर पहुंचे। वहां भी इसी उधेड़बुन में थे कि अब क्या करना चाहिए कि मालवीय जी महाराज का तार वाराणसी से मिला कि 'मुझसे जल्दी मिलो।' वाराणसी पहुंचे तो मालवीय जी ने कहा कि वह 'सनातन धर्म' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकालना और माधव जी को सम्पादक बनाना चाहते हैं। उसकी रूपरेखा बताई। महाशिवरात्रि से निकालना तय हुआ।

'सनातन धर्म' नाम से ही प्रकट था कि उसकी एक मर्यादा थी, किन्तु माधव जी ने धर्म की उदार भावना के साथ उसका सम्पादन किया। उसको महात्मा गांधी तक का आशीर्वाद मिला। पत्र की महत्ता इसी बात से प्रकट होती है कि उसके लेखकों में महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य ध्रुव, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दर दास, देवीदत्त शुक्ल, रघुवरप्रसाद द्विवेदी, हनुमानप्रसाद पोद्दार और प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जैसे लोग थे। माधव जी की उदार धर्मव्याख्या से काशी का कट्टर पण्डित-समाज प्रसन्न न था, बल्कि गांधी जी और जवाहरलाल के चित्र छप जाने के कारण नाराज़ था। इधर माधव जी गांधी जी को कट्टर सनातनी और भारतीय संस्कृति का प्रमाणपुरुष मानते थे। पण्डित वर्ग की मान्यता थी कि शास्त्र के अतिरिक्त और सब मिथ्या है। माधव जी पर स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक मस्ती और गणेश जी की देशभक्ति का गहरा प्रभाव था और उसे ही वह 'सनातम धर्म' द्वारा व्यक्त कर रहे थे। वह वर्णाश्रम

स्वराज्य-संघ की रीति-नीति से समझौता न कर पाते थे। पण्डितों ने मालवीय जी से शिकायत की।

'सनातन धर्म' के सम्पादक-मण्डल में चार और सहयोगी थे : पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, राजबली पाण्डेय, गयाप्रसाद ज्योतिषी और हीरावल्लभ शास्त्री। परन्तु ये लोग स्वतन्त्र जीविकोपार्जन करते हुए थोड़ी-बहुत सहायता करते थे; अधिक समय न दे पाते थे, इसलिए सहायक के रूप में शान्तिप्रिय द्विवेदी को रखना पड़ा। एक बार की बात है कि जोरहट (आसाम) के ब्रह्मचारी चैतन्य गोपालदेव ने 'इन्द्रिय संयम' पर एक लेख भेजा। व्यस्तता में उसे बिना पूरा पढ़े और यह सोचकर कि एक ब्रह्मचारी लेखक है, ठीक ही होगा, लेख प्रेस में दे दिया गया। इसी बीच घर से कोई दु:खद समाचार पाकर माधव जी छुट्टी पर चले गये और जाते समय पं० सीताराम चतुर्वेदी से ज़रा देख लेने को कहते गये, किन्तु वह भी देख न पाये और लेख वैसे ही छप गया। दुर्भाग्यवश लेख बड़ा अश्लील था। इसके कारण मालवीय जी को बड़ी व्यथा हुई और उन्होंने माधव को बुलाकर कहा—'कल से सम्पादन पं० सीताराम चतुर्वेदी करेंगे और तुम हिन्दी विभाग में काम करोगे।' माधव जी ने मालवीय जी महाराज के चरण छुए और मां तथा पत्नी को काशी ही छोड़ 'हिन्दी मिलाप' के सम्पादक लाला खुशालचन्द खुरसन्द से मिलने लाहौर जाने का निश्चय किया किन्तु किसी ईश्वरीय प्रेरणावश गोरखपुर होते हुए जाना तय किया। वहां 'कल्याण' वालों ने, इनकी पुस्तक 'मीरा की प्रेम साधना' से प्रभावित होकर इन्हें अपने सम्पादकीय विभाग में रख लिया। स्व० भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार के स्नेह तथा वहां के भक्ति एवं सात्विकता के वातावरण के कारण यह रह गये। वहां दस वर्ष तक रहे। वहां बिताये ये दिन इनके जीवन के स्वर्णिम दिवस थे। वहां इन्हें साधना और जन-सेवा के भी अनेक अवसर मिले। 'कल्याण' की ओर से बाढ़पीड़ितों, दीन-दुखिया लोगों की सेवा-सहायता के कार्य में भी यह खूब भाग लेते थे। प्रधान सम्पादक हनुमानप्रसाद जी के साथ उनके गृह-नगर रतनगढ़ (बीकानेर : राजस्थान) में भी रहे। उन दिनों उनके लिखे दो लेख आज तक मेरे स्मृति-पट पर अंकित हैं। पहला था, उस प्रदेश की सौन्दर्य-सुषमा का वर्णन, जो 'मयूरों के देश में' नाम से निकला था। दूसरा मुझी से सम्बद्ध था और मेरी एक पुस्तक 'घर की रानी' पर 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में मेरे प्रति उनकी कृपा और सद्भावना भरी हुई थी। बड़ी प्रशंसा थी। तब से वह मेरी प्रत्येक रचना, चाहे वह लेख हो या पुस्तक, खोज-खोजकर पढ़ते थे।

जिन दिनों यह 'कल्याण' में थे, उन दिनों की एक विचित्र घटना का जिक्र यहां करना चाहता हूं। गीतावाटिका में, इनके तथा अन्य बन्धुओं के साथ महाराष्ट्र के एक बाल ब्रह्मचारी रहते थे। नाम था उनका श्री चैतन्य गोपाल। ब्रह्मचारी जी ने बचपन से ही, विरक्त हो, गृहत्याग किया था। संन्यास लेकर उत्तराखण्ड के केदारनाथ में, १५-१६ वर्षों तक, फल-फूल खाकर घोर तपश्चर्या

और कठोर आत्मसंयम का जीवन बिताया था। अवस्था भी इस समय ४५-५० के लगभग थी। गोरा-चिट्टा शरीर, लम्बा छरहरा कद, सोने की-सी कान्ति, लम्बी आपाद पिंगल जटाएं, गैरिक वसन। देखते ही बनता था। उनके गैरिक वसन से एक अपूर्व ज्योति फूटती थी—जैसे उषाकालीन अरुणोदय की ज्योति होती है। शरीर तप्त कांचन की भांति दमकता था। वह रामायण-परीक्षा का काम देखने के लिए रोज़ कार्यालय जाते थे। मार्ग शहर की घनी आबादी के ऐसे मुहल्लों से गुज़रता था जहां शहराती बाज़ारू औरतें रहती थीं। बस, स्वामी जी आते-जाते एक ऐसी ही औरत की कृपादृष्टि के शिकार हो गये। साथियों ने एक दिन देखा कि उन्होंने अपनी जटाएं कटा ली हैं और भगवा वस्त्र की जगह श्वेत वस्त्र धारण कर लिया है। चेहरे की दीप्ति गायब हो गयी है। अनमने और उदास से दीखते हैं। स्वामी जी ने माधव जी को एकान्त में ले जाकर बताया कि वह विवाह करना चाहते हैं। बाद में माधव जी ने ये बातें भाई जी (हनुमानप्रसाद पोद्दार) को बताईं, तब उन्होंने कहा था : "संसार की माया कितनी विलक्षण है और कितनी दूर तक मनुष्य का पीछा करती है! जो विरक्ति की मूर्ति था वही आज, कुसंग के कारण, विवाह करने पर तुला है।"

यह चक्र चल ही रहा था कि माधव जी पर दमे का आक्रमण हुआ। वह एकान्त में खाट पर लेटे तड़प रहे थे कि स्वामी जी अकस्मात् आये और कूदकर उनकी छाती पर चढ़ बैठे तथा गला घोंटने लगे। पोद्दार जी तक बात पहुंचाने के कारण वह रुष्ट थे। कोई चारा न देख माधव जी ने ज़ोर लगाकर उन्हें खाट से नीचे गिरा दिया और ताबड़तोड़ घूंसे लगाये। तब वह क्षमा मांगने लगे। पोद्दार जी ने उन्हें एक आदमी के साथ उनके गुरुधाम, पंढरपुर, भेज दिया। परन्तु इस घटना का माधव पर स्थायी प्रभाव पड़ा और उन्होंने समझ लिया कि आत्यन्तिक मार्ग की जगह, सामान्य मानव के लिए, 'युक्ताहार विहार' का रास्ता ही उचित है। 'कल्याण' में रहते हुए समय-समय पर न जाने कितने पत्र उन्होंने मुझे लिखे हैं जो मेरी फाइल में अब भी पड़े हैं। उनकी मुझपर बड़ी कृपा थी।

'कल्याण' के बाद उनके नियमित सम्पादकीय जीवन का अन्त हो गया और उनमें जो अध्यापक मुकुलित था, वह प्रस्फुटित होने लगा। 'कल्याण' के बाद यह १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में शामिल हो गये। आन्दोलन शिथिल होने पर १९४३ की जुलाई में हनुमानप्रसाद पोद्दार की ही प्रेरणा से इनकी नियुक्ति जैन कालेज आरा में प्राध्यापक रूप में हो गयी। गणेशशंकर विद्यार्थी से इन्हें शिक्षा मिली थी—'ओ नो मैन एनीथिंग' (किसी के भी एहसान से बचो) और स्वामी रामतीर्थ से उनकी ये पंक्तियां—

राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।
यां यूं भी वाहवा है, और वूं भी वाहवा है।

ये ही दो वचन माधव जी के जीवन के मन्त्र बन गये। इसलिए प्रभु का धन्यवाद करके इन्होंने प्राध्यापकीय जीवन में पदार्पण किया और आरा कालेज के

प्रिंसिपल वेणीमाधव अग्रवाल की कृपा, उदारता, सज्जनता, पढ़ाने की शैली और आध्यात्मिकता के कारण दिन-दिन आगे बढ़ते गये। इनके सहयोगी अध्यापकों में स्व० नलिनविलोचन शर्मा, डा० शिवनन्दनप्रसाद, डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, डा० देवराज, डा० माहेश्वरी इत्यादि अनेक प्रख्यात अध्यापक थे, जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्र में कीर्ति अर्जित की। माधव जी वहां अनेक प्रकार के समारोह और आयोजन करते रहते थे और वहां के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में बराबर भाग लेते रहते थे। यहां पांच वर्ष काम करने के बाद वह १९४८ में सच्चिदानन्द सिनहा कालेज औरंगाबाद (गया) में प्राचार्य होकर चले गये। इनके कार्यकाल में वह कालेज भी खूब बढ़ा। फिर मगध विश्व-विद्यालय, बोधगया में रीडर हुए। अन्त में जनवरी १९५६ में सरकारी नौकरी में चले गये। समाज-शिक्षा विभाग के उपनिदेशक हुए, फिर पाठ्यग्रन्थ शोध संस्थान तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक हुए।

सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद साहित्य-निर्माण के काम में लग गये। बीच-बीच में दमा उमड़ता था और उससे इन्हें भयंकर कष्ट होता था। दिसम्बर ७२ में, जब मैं 'कंप्लीट हार्ट ब्लाक' जैसे मरणान्तक रोग के चंगुल में पड़ा शय्याग्रस्त था, माधव जी की अवस्था तेज़ी से बिगड़ने लगी। उन्हें पटना हास्पिटल में रखा गया; दवा-दरू और सेवा-शुश्रूषा का अच्छा प्रबन्ध था। बीच में स्थिति कुछ सुधरती जान पड़ी किन्तु अन्त में उन्हें जिह्वा का लकवा (टंग पैरालिसिस) हो गया और उसी अवस्था में वह ३० दिसम्बर १९७२ को हमें छोड़कर चले गये। यह विधि की कैसी विडम्बना है कि राहुल जी, बेनीपुरी और माधव सब वाणी के निष्ठावान उपासक होते हुए अन्तिम समय में अवरुद्धवाक् होकर चिरमौन में समा गये।

जीवन-दर्शन

माधव जी के जीवन-विस्तार की ओर नजर डालने पर वह साधक, छात्र, सम्पादक, अध्यापक और साहित्य-निर्माता विविध रूपों में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु प्रत्येक रूप में उनका चिन्तक ही प्रधान रहा है। वह कांटों से भरी डगर पर किसी दृढ़ निश्चय के साथ चलते दिखाई पड़ते हैं। उनका चिन्तन रूखा नहीं है; वह प्रखर भावनाओं से उद्वेलित और ऊर्जस्वित है। छात्र जीवन से ही उनके कवि का पनपना हम देखते हैं। तब वह रात-रात भर बैठकर कविता लिखते थे—एक मस्ती, एक नशा था, जो उन्हें हरदम अपनी गोद में समेटे रखता था।

जब मस्ती की रेखा भीगने लगी तो उन्होंने 'मीरा की प्रेम-साधना' लिखा, जिसमें उनके हृदय की धड़कनें स्पष्ट होने लगी थीं। मीरा तो एक आलम्बन है सर्वग्राही आत्मार्पण की दीपशिखा के प्रति उनके एकान्त निवेदन का। उन दिनों भी हम समझते थे कि हमारे बीच एक कलम आई है जिसमें तूफान है, किन्तु वह तूफान मर्यादा और संयम से बंधा है। तूफान हिलोरें लेकर मुड़ गया और दूसरे

ग्रन्थ 'संत साहित्य' में उसके बीच उफनते और तैरते विवेचक के दर्शन हुए। फिर 'मेरे जनम जनम के साथी' में तूफान ने आत्म-दर्शन किया; 'धूपदीप' में जीवन की पूजा रूपायित हुई; 'संतवाणी' में उसका आकलन पुष्पगुच्छ के समान है। फिर 'पूजा के फूल' आराध्य के चरण-तल में बिखेर दिये गये हैं।

भावनाओं से ऊपर उठा विवेचक 'दि फिलासफी आफ वल्लभाचार्य' में अन्वेषणरत है किन्तु इनके हृदय-विलोड़न का अमृत तो है : 'रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना', जिस पर इन्हें कलकत्ता के 'हनुमान-साहित्य-संस्थान' ने पांच हज़ार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया था। इसी प्रकार की दूसरी यशस्विनी कृति है 'वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव" इनकी भावना निरन्तर विवेचना के समानान्तर चलती रही है जिसका प्रमाण है 'हंसते फूल और मुस्काती कलियां', तथा 'जीवन के चार अध्याय'।

'युक्ताहार विहार' वाला मझोला वपु, उन्नत मस्तक, जो भगवत्स्मरण एवं पूजार्चन में, रह-रहकर, झुक जाता है, सदा मुस्कराता चेहरा और दूर किसी अप्रत्यक्ष जगत् में देखती स्वप्निल—"विज़नरी' आंखें; वाणी में मिश्री की चाशनी, ईर्ष्या-द्वेष, गुटवन्दी और आत्मप्रचार से दूर, भुवनेश्वर उर्फ माधव जी को देखकर सदा सात्विक आनन्द की भावनाएं मन में उमड़ती थीं। वह भावनाओं के उत्स पर संयम-नियम का ढक्कन लिये दिखाई पड़ते थे। एक आदमी जो संतों की पूजा में तन्मय होकर संत होते-होते रह गया; जो भावुक होकर भी तपस्वी, कवि होकर भी विवेचक, सम्पादक होकर भी आत्मनिष्ठ और अध्यापक होकर भी छात्र था। कभी उनके पास असत् की मायाविनी फटकने नहीं पाई। वह विद्वान होकर भी सदा विनीत, परिणत होकर भी प्रणत, हरसिंगार के फूलों की तरह सब कुछ अर्पित और निवेदित करके समग्र जीवन को ही पूजा का रूप देने वाले थे माधव——भावमूर्ति, स्नेहप्राण, धर्म और देशभक्ति की मूर्ति, यौवन के कवच में भी बालसुलभ सरलता छिपाये, प्रेम ही जिनका जीवन था और प्रेम ही जिनकी मंज़िल थी, चले गये हैं माधव, जिनकी ज़िन्दगी पुकारकर कहती थी :

चाह है तो इश्क कर ज़ाहिद,
बन्दगी से खुदा नहीं मिलता।

शिवप्रसाद मिश्र

: रुद्र काशिकेय तथा गुरु बनारसी :

परिचय

यह शायद १९२२ ई० की बात है, जब पहली बार हम काशी के प्रसिद्ध तीर्थ-पुरोहित पं० महावीरप्रसाद मिश्र से, अपनी लोमहर्षक भीषणताओं के लिए गलत-सलत रूप में बदनाम काशी करवट मुहल्ले में, उनके घर, 'उग्र' के साथ मिलने गये थे। वह उनका ज़माना था और काशी के पण्डों एवं गुण्डों दोनों में उनका बड़ा रंग था। बड़े प्रेम से मिले; 'उग्र' की भंग-बूटी छनी; मैंने ठण्डाई ली; फिर बढ़िया जलपान हुआ—पिस्ते और बादाम की बर्फी थी। चलते समय, महावीर महाराज ने हम लोगों को १०-१० रुपये दक्षिणा भी दी। ऐसा वह कवियों, लेखकों और गुणीजनों के साथ अक्सर करते थे। बिल्कुल छोटे सामन्ती दरबार वाला मामला था।

वहीं पहली बार प्राय: १०-११ साल के एक सुदर्शन बालक को देखा : भरा चेहरा, उठता हुआ शरीर, नाहर के बच्चों-सा सीना; आंखों में प्रतिभा की चमक। बालक ही हम लोगों के स्वागत-सत्कार का माध्यम था। महावीर महाराज केवल आदेश देते जाते थे। वैसे सामग्री नौकर-चाकर लाते थे, जिनकी भीड़ की भीड़ उन दिनों उनके यहां थी। यही था उनका एकमात्र पुत्र शिवप्रसाद, जिसे सचमुच शिवप्रसाद के रूप में उन्होंने पाया था : होनहार, दुलरुवा और कुलशोभन। यही आगे चलकर अत्यन्त प्रतिभाशाली साहित्यकार रुद्र काशिकेय और गुरु बनारसी[1] के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

हम अक्सर शाम को, काशी विश्वनाथ का दर्शन करने के बाद लौटते हुए या दर्शनार्थ उधर से जाते हुए, महावीर महाराज के यहां जाते। बैठकी होती; कितनी ही बातें सुनते-सुनाते। बाद में तो हमारे साथ, निराला भी, जब काशी में होते, कभी-कभी हो लेते। उस समय गरीबी थी, कठिनाई थी, पर बड़ा अच्छा शरीर था निराला का। देखते रहने का जी होता था। सहज ही मिश्र जी उनके दिव्य वपु से, और बाद में उनकी प्रतिभा से प्रभावित-आकर्षित थे। अब छनने लगी; घुटने लगी। बनारसी भोजपुरी और बैसवाड़ी में वह चर्चा बड़ी सुहावनी लगती थी। पास ही बैठा वह होनहार बालक शिवप्रसाद सुना करता। शायद गुनता भी रहता था, क्योंकि कभी-कभी एकाध टिप्पणियां जड़ देता या सवाल ही पूछ बैठता, जिसके पीछे उसकी भावी गरिमा झांकती दिखाई पड़ती। एक दिन हम तीनों थे : मैं,

---

१. जन्म : २७ सितम्बर १९११; मृत्यु : १ सितम्बर १९७०

उग्र, निराला। छनी हुई थी; सब्र मौज में था। खुश होकर कंधा थपथपाते हुए निराला ने बालक से पूछा : क्या नाम बताया था तुमने ? उसने कहा : शिवप्रसाद। निराला ने कहा : आज तुम्हारा कुछ उपनाम रखूंगा। फिर मुड़कर पूछा : "कहो उग्र, तुम्हारी क्या राय है ? उग्र ने छूटते ही कहा : 'रुद्र'। निराला ने कहा : तुमने अपना ही गोत्र बढ़ाया। एवमस्तु। तभी से उनके नाम के साथ 'रुद्र' जुड़ गया।

मैं बहुत दिनों तक बनारस रह नहीं सका। कलकत्ता, बम्बई, अजमेर, वर्धा, अकोला इत्यादि में घूमता रहा। इसलिए वह क्रम भंग हो गया परन्तु १०-१२ वर्ष बाद जब पत्र-पत्रिकाओं में यदा-कदा 'रुद्र' की रचनाओं के पढ़ने का अवसर मिलता तो पुराने दिन ताज़ा हो जाते। बीच-बीच में जब कभी वाराणसी जाना होता तो द्रुत गति से बदलती वहां की पार्श्वभूमि पर कल्याणी अतीत-स्मृति-सी वे गोष्ठियां दिल-दिमाग पर छा जातीं, जिन्हें हम पीछे छोड़ आये थे। इस बदलते परिवेश में हम पूर्व के उस होनहार बालक को संभ्रम के साथ देख रहे थे, जो अपनी चरित्र-रेखा में निरन्तर वाराणसी की अभिव्यक्ति कर रहा था—वाराणसी की महिमा, वाराणसी की 'मगन रहु चोला' या तृष्णामूला अशान्ति को ठेंगे पर मारनेवाली प्रकृति, वाराणसी की ऊर्जा और आलस्य, वाराणसी की अनौपचारिकता और ठसक, वैभव और दैन्य, स्वाभिमान और विनम्रता, महिमा और शालीनता, शास्त्र औरपरम्परा, विद्या और हठधर्मी अर्थात् समस्त गुण-दोषों को एकत्र लिये जीवन-मार्ग पर बढ़ता चला जा रहा था।

काशिका के उन्नायक

कुछ पुरानी स्मृतियों की मादकता के कारण, कुछ समस्त भारत को लांघने वाले मुझ वामन के अन्दर जो अमृत काशी तत्त्व प्रच्छन्न पड़ा था, उसकी भंगिमाओं के कारण शिवप्रसाद मिश्र उर्फ 'रुद्र' काशिकेय और 'गुरु बनारसी' के प्रति एक आकर्षण मन में बना रहा। प्रसाद, उग्र, बेढब, विनोद इत्यादि सुहृदों एवं मित्रों के कारण, चाहे जहां भी रहा, बनारस से बंधा रहा और मन मातृभूमि के लिए छटपटाता और प्रार्थना ही करता रहा :

कुटिल करम लै जाइ मोंहि जहँ जहँ अपनी बरियाई,
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये कमठ-अण्ड की नाई।

और एक समय ऐसा भी आया कि वाराणसी को याद करना मानो साहित्य में 'रुद्र काशिकेय' को याद करना हो गया।

मैंने भारतीय प्रान्तीय भाषाओं और जनपदीय बोलियों में से बहुतों का अध्ययन किया है। जिनका अध्ययन नहीं कर सका, उनको मित्रों तथा सहयोगियों से सुनता-गुनता रहा हूं। सब पढ़-सुनकर मेरा मत है कि भोजपुरी बोली में मर्म को छूने और अतलस्पर्शी भावनाओं को व्यंजित करने की जो शक्ति है, जो मार्दव है, क्रियापदों में जो विविधता और गहरी पकड़ है, करुण, वीर तथा शृंगार-रसों

का जो परिपाक है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भोजपुरी प्रदेश में, जिसमें मैं काशी को भी गिनता हूं, एक से एक कवि, साहित्यकार, लेखक, गायक और गुणीजन हुए हैं। गायकों ने तो वहां की बोली का वर्चस्व स्वीकार कर उसमें अपनी कला को महिमान्वित किया परन्तु साहित्यकारों और कवियों ने प्रायः उसकी उपेक्षा की। कदाचित् भारतेन्दु और तेग़अली दो ही उसके अपवाद थे। इतने दिनों बाद रुद्र काशिकेय, अपनी महज बनारसी प्रकृति और प्रवृत्ति-वश उसके उन्नयन-कार्य में सचेष्ट हुए।

काशिका अथवा बनारसी बोली के उन्नयन में उनका योगदान अप्रतिम है। तेग़अली के 'बदमाश दर्पण' की कुछ कविताएं उपमा-उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अवश्य ही प्रशंसनीय हैं, जैसे :

भौं चूम लेइ ला केहू सुंदर जे पाईला।
हम ऊ हई जो ओठ पऽ तरवार खाईला।

परन्तु 'रुद्र' ने इस बोली को उच्च स्तर पर ले जाकर गहन भावनाओं के प्रकाश का साधन बनाया। गणेश और जगदम्बा के प्रति उन्होंने जो प्रार्थनाएं की हैं उनमें अद्भुत बनारसी चोज़ है। उनकी जगदम्बा की वन्दना तो हिन्दी में बेजोड़ है ही, समस्त भारतीय साहित्य में भी ऊंचा स्थान पायेगी :

रोय रोय ऐस ही पुकारल करब तोंके,
कब तक पुकार तोरे कान में सुनाई न ऽ ?
कब तक छँटी न भला बादर बिपत कऽ ई,
कोटिन कलेसन कऽ कबले कटी काई नऽ ?
कब ले तैं मन्निर में पत्थर बनल रहबी,
कब ले बताव माई, तोंके दया आई नऽ ?
बाटी हम लड़िका गदाई तऽ एहिसे का,
करबी दया न कइसे, तैं त हई माई नऽ ?

कैसी घरेलू सहज भाषा है, और मां के प्रति कैसा आग्रह, जैसे सचमुच शिशु मां से बात कर रहा हो। भक्ति में कितना विश्वास है, कितनी दृढ़ता है, मां के प्रति कैसा ममत्व है। 'हम लड़के दुष्ट सही परन्तु तू कैसे दया न करेगी ? आखिर तू तो मां है न !' 'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति' का कैसा भाष्य है !

यह प्रार्थना उन्होंने १९४७ ई० के शारदीय नवरात्र में लिखी थी। उनके मुंह से सुनने में और भी भली लगती थी। यह वह जगदम्बा नहीं, जो मन्दिरों में पत्थर हो गयी है, वह जगदम्बा है जो अपने मानवी और मांसल रूप में भारतीय गृहों को अब भी पावन बनाये हुए है।

परन्तु जैसे इस प्रार्थना में कल्याणी मां के प्रति भक्ति का एकान्त आग्रह है, वैसे ही उनके करालिका रूप का आवाहन भी ओजस्वी है। वीर एवं रौद्र रसों का बढ़िया मेल है इसमें :

कर्कट गलीजन कऽ लगल अंबार बाटै।
फूँके वदे खप्पर में आग दहकउले आव ।
कुटिल कुकर्मिन कऽ लगल बजार बाटै,
मैया, तनी हाथ में खड़ग खड़कौले आव।
रंग में रमल फेर उठलन रक्तबीज,
जीभ लपकौले आव, आज मुँह बउले आव।
सूल चमकौले आव, चक्र दमकौले आव,
कट कट दांतवाली, लट लटकौले आव।

उनकी गणेश-वन्दना भी, यद्यपि उसमें हास्य का पुट है, अद्भुत है । उसमें उनके माध्यम से जगतपिता शिव एवं जगदीश्वरी मां की कृपा-याचना की ओर भी सूक्ष्म संकेत है । अधिकांश कवियों की भांति रुद्र ने पहले कविता के लिए ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया था; फिर 'गुरु बनारसी' के रूप में जब काशिका अथवा बनारसी बोली में रचना शुरू की तो परम्परानुसार पहले गणेशवन्दना की थी। ज़रा उनके कहने का बांकपन तो देखिए :

बुढ़ऊ तऽ छानघोंट नकिया बजावत होइहैं,
तोंहसे बनै तऽ तनी ओन के जगाय दऽ।
सँपवन के देखि देखि दहलै करेजा जौ त ऽ,
जोड़त हई हाथ तू माई के बोलाय द ऽ।
कब से पुकारत हई तोहके सुनात नाहीं,
गोबर गनेसपन आपन मिटाय द ऽ ।
सुनके कवित्त सब मुड़वा हिलाय देइहैं,
करिके दया ऐ 'गुरु' सुँड़वा हिलाय द ऽ।

●

हास्य और व्यंग तो उनकी अपनी विशेषताएं थीं। सरकार और पिसती हुई जनता के सम्बन्ध में, सत्ता में आने के पहले और सत्ता में आने के बाद का एक शब्द-चित्र है :

तू कोसऽ, हम तोहें असीसब,
गाली, मार, कमी गल्ला क ऽ
का करिहैं मिलजुल के ई सब?
गौरैया-अस चें चें करके,
सबकर दया बटोर लऽ पहिले,
पाछे बनके बाज 'गुरू' तू,
पंजा, ठोर दराज देखउलऽ ।
तू मसीन सासन कऽ ढोवऽ,
हम अपने घर चकरी पीसब ।
हम, सब तोहरे मंघे बारी,

साबित ई अखबार करत हौ ।
भूखी नंगी रहने पर भी,
जनता जै जैकार करत हौ ।

कवि-रूप में

जैसा मैं पहले लिख चुका हूं, रुद्र ने पहले ब्रजभाषा को कविता का माध्यम बनाया। कविता लिखने का शौक १५-१६ वर्ष की अवस्था में पैदा हुआ। जब १९२७ ई० में आठवीं कक्षा में पढ़ रहे थे, तभी 'कर्णवध' लिखा था। तब से कुछ न कुछ लिखते ही रहे--ज़्यादातर ब्रजभाषा में; जो अपनी गोद में इतने रत्न छिपाये हुए हैं कि उसमें अपनी विशेषता का निर्माण कर लेना कठिन, क्या असंभव है; अतः यहां भी वही परम्परागत रंग था :

रंगु गयो उड़ि पाछिलो री, पट—
भूमि कहूँ कछु चीर गयो है।
चाँदनी-सी मुरझाइ रही उठि,
भौंरन को कहुँ भीर गयो है।
छाँहभरी जमुना तट-त्यागि कै,
दूर ही लै निज नीर गयो है।
स्याम के हाथ लिखी ब्रज की,
सखि, धूमिल ह्वै तसबीर गयो है।

काव्य में उन्होंने अनेक प्रकार के प्रयोग किये और ब्रजभाषा, काशिका तथा खड़ी बोली में कितनी ही कविताएं लिखीं। कविताएं प्रसाद गुण पूर्ण, सरल और सहज भावों तथा कल्पनाओं से पूर्ण हैं। १९५२ ई० में 'तुलसीदास' पर उनका एक खण्ड काव्य भी प्रकाशित हुआ था। कदाचित् वही उनका एकमात्र स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ है। इसमें तुलसीदास और काशी के पारस्परिक सम्बन्ध के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। भाव और भाषा की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है।

उर्दू और फारसी साहित्य, विशेषतः काव्य, का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था और उर्दू में मुहाविरेदानी तथा भाषा को मांजने के जो प्रयत्न हुए हैं, उनके वह प्रशंसक थे, और उससे प्रभावित होने के कारण उसका हिन्दी में भी प्रयोग करने को लालायित थे। इसीलिए उन्होंने हिन्दी में गज़लें लिखने का क्रम चलाया और उसमें पर्याप्त सफलता पाई। १९५५ ई० में इनका एक संग्रह 'गज़लिका' के नाम से निकला। इसमें उन्होंने उर्दू गज़ल को अपनाते हुए लिखा था :

"भाव की दृष्टि से हिन्दी कविता अपनी पूरी ऊंचाई तक पहुंच चुकी है, मगर भाषा का परिष्कार करने का समय अब आ गया है। उर्दू गज़लों में भाषा का परिष्कार बहुत हुआ है, इसलिए हिन्दी को भी यदि गज़लों के माध्यम से परिष्कृत किया जायगा तो शायद अनुचित न होगा।…मैंने अपनी गज़लों में शमापरवाना,

गुलोबुलबुल का पिष्टपेषण नहीं किया, और न कविता-कुंज को कसाईखाना बनाया है।" इस तरह भावभूमि हिन्दी की और तर्ज़ेबयान उर्दू का मिलाकर उन्होंने काव्य का सशक्त माध्यम उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। कहते हैं :

न छल कर रहा हूँ, न बल कर रहा हूँ।
न तो सत्य को ही बगल कर रहा हूँ।
चहक से, महक से भरे 'रुद्र' गुल को,
तनिक गुनगुनाकर कमल कर रहा हूँ।

इस तरह अहिन्दी माध्यम को उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से संग्रथित करने का प्रयत्न किया है। कमल और मीन की जोड़ी पुरानी है। कमल पानी के ऊपर रहता है; मीन पानी में डूबी रहती है :

इन दिनों मन मलीन ज़्यादा है,
आह के ही अधीन ज़्यादा है,
हैं कमल नेत्र तो अधिक उनके
और मेरे, कि मीन ज़्यादा है।

उत्तरकाल की कविताओं में उनके मन के चिन्तन और दिन-दिन बढ़ती हुई रहस्य के प्रति कुतूहल तथा जिज्ञासा की छाप है। अब कवि में विचारक का प्रवेश हुआ है और भावभूमि उन्नत होती चली गयी है। बहुभाषाविद् होने के कारण उनका शब्द-भण्डार बड़ा विस्तृत है। वह किसी बन्धन, वाद या धारा से बंधे हुए न थे, मन में भाव उमड़े, उफान आया, बस लिख डालते थे। उनके काव्य में उनका मानसिक विकास प्रतिबिम्बित है। उत्तर जीवन में सृष्टि के अनेक रहस्य उनके सामने, प्रश्न के रूप में, आने लगे थे और कवि अन्तःस्थ होने लगा था। हैरान होकर पूछते हैं :

खग युगों से उड़ रहा है,
पर, आज भी नभ दूर है क्यों ?
सृष्टि के आरम्भ से ही,
प्राण रोता आ रहा है
मारता गति की नदी में,
नित्य गोता जा रहा है,
और नभ पर भी न जाने
कौन उसको पथ दिखाने—
दिवस—निशि शशि-भानु का,
दीपक संजोता आ रहा है।
प्यार जब इतना भरा तो,
हार से मजबूर है क्यों ?

काशिका-संस्कृति के उद्धारक

आज की राजनीति की शब्दावली का प्रयोग करना चाहें तो कहना चाहिए कि 'रुद्र' का सारा निर्माण मध्ययुगीन या सामन्ती था। इसका यह मतलब नहीं कि वह सामन्तवाद में समाप्त थे; नहीं, उसको माध्यम बनाते हुए भी उससे ऊपर उठ जाने वालों में थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व, संस्कार, साहित्य का परिप्रेक्ष्य सब कुछ ऐसी मस्ती से भरा था कि पांव युग की भूमि पर चलते हुए डगमगाते थे। आज की गलाकाट गत्योन्माद के प्रति अत्यन्त उपेक्षा के भाव थे उनमें। तिकड़मों के सार्वजनिक जीवन से वह बहुत घबड़ाते थे। बनारस की परम्परा और संस्कृति तो बहुत-कुछ कालजयी है परन्तु वर्तमान युग की धार इतनी प्रखर है कि शान्तिपूर्वक जीने और चलने की कामना के पांव उसमें अस्थिर हो जाते हैं और सनातन बनारस भी बदलता जा रहा है। इन बदलते हुए परिवेशों में एक सनातन पकड़, एक फकीरी अकड़, अत्यन्त दुर्लभ कुछ अजीब-सी मस्ती, सभ्यता की मांगों और कृत्रिमताओं का उपहास करने वाली चाल, प्रोलेतेरियन देवता शिव की कोटि-कोटि भंगिमाओं में थिरकते प्राण, गतिशीलता के बीच अगति और संभ्रम का जादू लिये चलने वाले पुरवासी, पूर्व उषाकाल में गंगास्नान का सुख, देवदर्शन, हरहर-बमबम, कसरत और कुश्ती, भंग-बूटी, निपटाव-नहान, शास्त्रार्थ, ज्ञानार्जन एवं सृष्टि की विविध गुत्थियों को सुलझाने के साधु-विद्वत्-प्रयास, मठ-मन्दिर, आरती और घण्टे सब एक ऐसे युग की धरोहर हैं जा चला गया है, बहुत-कुछ चला गया है और सब जगह से जा रहा है, काशी से भी जा रहा है, परन्तु कुछ अटकाव-भटकाव अब भी है। इस सारे वातारण को हम 'रुद्र' के साहित्य में देख या पा सकते हैं। प्रसाद ने जब 'गुण्डा' कहानी लिखी थी तो काशी जनपद में कुख्यात परन्तु अन्तर में अमृत का एक कण लिये, ऊपर से परित्यक्त परन्तु अन्तर से काशी की महिमा के साक्षी, उन्नतमना, एक असभ्य वर्ग के मानव-व्यक्तित्व को अन्दर से खोलकर दिखाने की चेष्टा की थी। परन्तु वह सिर्फ एक कहानी लिखकर रह गये : कदाचित् उनकी गरिमा इस पथ में उनका अवरोध बन गयी। उस परित्यक्त सम्प्रदाय को रुद्र ने पूरी तरह अपना लिया। शायद काशी के साहित्यकारों में वही इस कार्य के सम्पादन के लिए योग्यतम थे, क्योंकि बचपन से ही वैसा परिवेश और वातावरण उन्हें मिला था; वह उससे एकरस हो गये थे और काशी के इतिहास तथा चप्पे-चप्पे की जो जानकारी उन्हें थी, वह शायद ही किसी और को रही हो। फलत: उन्होंने वहां के जनपदीय जीवन के बहुरंगी पक्षों को लेकर जो कहानियां लिखीं, वे न केवल हिन्दी वरं समस्त भारतीय साहित्य में बेजोड़ हैं।

'बहती गंगा' की कहानियां जब पत्र-पत्रिकाओं में निकल रही थीं, तभी उन्होंने पाठकों एवं साहित्य-प्रेमियों में हलचल मचा दी थी। बाद में जब वे एकत्र होकर पुस्तक ('बहती गंगा') के रूप में निकलीं तो एकस्वर से लोगों ने कहा कि

यह बिल्कुल एक नई चीज़ हिन्दी में आई है। इसमें १७ कहानियां संकलित हैं। कहानियां अलग-अलग, स्वतंत्र, भी हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध भी, और सब पढ़ने पर एक उपन्यास के अनेक अध्यायों-सी लगती हैं। इनमें काशी के विद्रोही महाराज चेतसिंह के बाद की काशी, अपने प्राय: शतवार्षिक लघुस्तरीय सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन की ऐसी सजीव झांकियां हैं, जैसे वे चित्रपट पर देखी जा रही हों।

कहानियों का चरित्र-चित्रण इस अनोखे ढंग से हुआ है कि हमें अनुभव ही नहीं होता कि हम एक लेखक की कल्पित कथाएं पढ़ रहे हैं। सारे के सारे चरित्र जीवन्त, मांसल और अपने में ही सार्थक हैं। लगता है, हम इतिहास के हृदय में उत्पन्न हलचलों को पढ़ नहीं, देख रहे हैं। बौद्धिकता तथा संवेग का उपयुक्त संयोग इनमें दिखाई पड़ता है। छोटे तबके के मानवों में ऐसे महनीय मानवीय गुणों का उद्घाटन देखकर चकित रह जाना पड़ता है। प्रेमचन्द ने होरी व सूरदास तथा शरत ने राजलक्ष्मी की जैसी अपूर्व सृष्टि की है वैसे ही 'रुद्र' ने झालर महाराज, भंगड़ भिक्षुक, दाताराम नागर, शिवनाथ सिंह, बहादुर सिंह, टुन्नू और बेनी तमोली इत्यादि नायकों एवं चरित्रों का सृजन किया है। साधारण में असाधारण की अभिव्यक्ति है 'बहती गंगा'। वे चरित्र तथा व्यक्तित्व-प्रकार काशी के जन-जीवन के महत्त्वपूर्ण अंगों के रूप में जनता के श्रद्धाभाजन तो युगों से बने हुए थे; रुद्र ने उन्हें कथा-साहित्य का माध्यम बनाकर अमर कर दिया। इनमें पराधीनता की वेदना के विरुद्ध विद्रोह का भाव और तदनुकूल प्रयास एवं उत्सर्ग का तेज भी है। 'एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,' 'दिया क्या जले जब जिया जल रहा' कहानियों में उन्होंने दलित, उपेक्षित वर्ग की भावनाओं के जो चित्र दिये हैं, वे हमारे राष्ट्रीय इतिहास के सजीव अंग हैं।

'रुद्र' पर एक ओर 'प्रसाद' का सांस्कृतिक प्रभाव है, दूसरी ओर उनमें 'उग्र' की चुलबुली शैली का असर है। 'प्रसाद' की भांति ही उनकी नारियां पुरुषों से अधिक परिष्कृता और त्यागशीला हैं। वे शक्ति-भक्ति-रूप हैं। सुन्दर, गौरी, रकिया इसके उदाहरण हैं। दुलारी, गंगा, कुसुम, सुधा प्रेम के बहुरंगी पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं। निस्सन्देह मौलिक चित्रांकन, शिल्प, शैली, भाषा और संवेगों के उतार-चढ़ाव की दृष्टि से 'बहती गंगा' अपने ढंग की भारतीय साहित्य में एक ही रचना है। यदि 'रुद्र' और कुछ न लिखते तो भी इस कृति के कारण हिन्दी में अमर होते, जैसा कि हुए। काशी की संस्कृति ही उनकी रचनाओं में उद्घाटित हुई है।

अध्यापक 'रुद्र'

'रुद्र' अपने छात्र-जीवन से ही प्रतिभा के राजकुमार थे। बाप के दुलरुवा, गृह के एकमात्र दीपक, बौद्धिक प्रेरणाओं के प्रति जिज्ञासु और अध्ययन में काफी अच्छे। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर वह विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहां जाकर

उनकी मेधा खुल गई और उन्होंने जिस भी विषय को लिया, उसका गहराई के साथ अध्ययन किया। उनके अध्यापकगण उनके कार्य एवं स्तर से सदैव प्रसन्न रहे। इसी का परिणाम यह हुआ कि पहले विद्यालय और फिर विश्वविद्यालय में वह प्राध्यापक हो गये।

प्राध्यापक के रूप में 'रुद्र' ने और भी ख्याति अर्जित की। वह अपने विवेच्य विषय को इतना तन्मय होकर पढ़ाते थे कि उनके छात्र विमुग्ध होकर रह जाते थे। एक-एक शब्द या पद के महत्त्व को समझाते थे; काव्य-विशेष के लालित्य, सौन्दर्य और मर्म को उद्घाटित करके श्रोता के सामने रख देते थे। स्वयं मेधावी थे तथा उन्हें पालि, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी व बंगला भाषाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त था। स्मरणशक्ति अलौकिक थी, अध्ययन गहन था तथा पाण्डित्य व्यापक था और इन सबके साथ उनकी मस्ती और रसज्ञता ने मिलकर एक ऐसे अध्यापक का निर्माण किया था, जो उस ज़माने में भी दुर्लभ था, आज तो अप्राप्य ही माना जाना चाहिए। पढ़ाने की धुन में वह लाला भगवानदीन तथा मस्ती एवं गहराई में केशवप्रसाद मिश्र की याद दिलाते थे। वह विश्वविद्यालय में तो पढ़ाते ही थे, उनके घर पर भी छात्रों की भीड़ लगी रहती थी। जिसने उनसे पढ़ा नहीं, कि मुग्ध हुआ नहीं। बाद में तो घर पर कक्षाएं लगने लगी थीं, और पढ़नेवाले छात्रों को वह कभी पढ़ाने से कतराते नहीं थे। भक्तिकालीन काव्य के तो वह मर्मज्ञ थे और विद्यापति का विशेष अध्ययन उन्होंने किया था। विद्यापति और प्रसाद उनके प्रिय कवि थे। उन्होंने 'कीर्तिलता' का सम्पादन एव पाठशोधन शुरू किया था; कुछ काम हुआ भी किन्तु बीमारी के कारण उसे पूरा न कर पाये। उसके तथा 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के सम्पादन-प्रकाशन के सम्बन्ध में उनकी चिन्ता अन्तिम दिनों तक बनी रही।

अन्य कार्य : भावी योजनाएं

तुलसी ('रामबोला') के जीवन पर 'रामबोला' उपन्यास लिखने की बात उन्होंने, मित्रों के आग्रह से, स्वीकार कर ली थी। वह इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त थे, परन्तु 'रामबोला' अबोला ही रह गया। उसका आरम्भ ही हो पाया था कि कहनेवाले का अन्त हो गया।

उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखे पत्र में, एक और ग्रन्थ लिखने की योजना का उद्घाटन किया था। ८ जनवरी १९६९ ई० को लिखा था :

"जहां दुनिया में असंख्य इंसानी दुर्बलताएं हैं, वहीं एक यह भी है कि अपनी मौलिक पशुता के कारण हज़रते इंसान स्वार्थ पर तनिक भी ठेस लगते ही अपने मूल रूप में आ जाते हैं; नरत्व की आरोपित नक़ाब नोच फेंकते हैं और मूल वानरत्व प्रकट करते हुए, प्रखर नखर के अभाव में खर बुद्धि और जहरीली जिह्वा से ही प्रतिद्वन्द्वी को बकोटने और खखोटने लग जाते हैं। ऐसे लोग महापण्डित हो जाने पर भी, अवसर मिलने पर विकट वाग्युद्ध करने में कभी नहीं चूकते, फिर वे

चाहे साक्षात् शंकराचार्य हों, चाहे महर्षि याज्ञवल्क्य। ऐसे ही महर्षियों और महाकवियों के कलह की घटनाएं मैं छोटी-छोटी कहानियों के रूप में लिपिबद्ध करना चाहता हूं। मैंने संस्कृत, हिन्दी और उर्दू साहित्य से सात-सात घटनाएं चुनी हैं: कुल इक्कीस कहानियां। उनका सामान्य शीर्षक होगा: 'धर्म क्षेत्रे कुरु क्षेत्रे।' कारण: साहित्य का क्षेत्र धर्म क्षेत्र है, जिसे हमारे कवियों और मनीषियों ने कलह का कुरुक्षेत्र बना रखा है। अतः संस्कृत के सात शीर्षक ये होंगे:

१. याज्ञवल्क्य का सिर तोड़ तर्क
२. विजया की विजयोक्ति
३. विद्वान राजा और विदुषी रानी
४. कर्णाटिकी का दारुण दंभ
५. शिष्या से शास्त्रार्थ
६. पण्डितराज की मंजूषा
७. दुःखभंजन की दलील

हिन्दी में:

१. कबीर के तीखे तीर
२. सूर का जवाबी हमला
३. भगति भगायो लोग
४. गंग की तरंग
५. पद्माकर और ठाकुर के दांव-पेंच
६. पंत और निराला की कलात्मक कुश्ती
७. प्रेमचन्द और प्रसाद में पंजा लड़न्त

उर्दू में:

१. जुरअत की जुर्रत
२. मुसहफ़ी की मुसीबत
३. शाही सांड़ों की लड़ाई
४. नासिख-आतिश का वाग्युद्ध
५. नसीम की नसीहत
६. 'ग़ालिब' पर चोट
७. दाग़ पर दाग़

परन्तु यह कार्य भी न हो सका। कविता के क्षेत्र मे समय-समय पर स्फुट रचनाएं लिखी जाती रहीं।

वह एक अच्छे पत्रकार और उससे भी अच्छे अभिनेता थे। काशी में हिन्दी का नाट्य-मंच निर्माण करने के प्रयत्नों में वह सदा सहभागी रहे। १९२८ ई० में जब वह केवल १७ वर्ष के थे, विक्रम परिषद् के प्रतिष्ठापक पं० सीताराम चतुर्वेदी तथा अन्य लोगों ने प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक का अभिनय किया था। 'रुद्र' ने इसमें बड़े उत्साह से भाग लिया था। उस समय 'चन्द्रगुप्त' का अभिनय बड़ा

सफल रहा था। आज तक के हिन्दी नाटकों के अभिनय के इतिहास में वह बेजोड़ है। इसमें बल्लीबाबू (बालकृष्ण दास), टण्डन जी, मंगलीप्रसाद अवस्थी, लक्ष्मीकान्त झा, सर्वदानन्द, सीताराम चतुर्वेदी आदि उच्चकोटि के अभिनेताओं का योग था। काशी में नाट्यमंच के विकास के जो भी प्रयत्न हुए उनमें 'रुद्र' का सहयोग सदा प्राप्त होता रहा।

अपने जीवन में कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन से उनका सम्बन्ध रहा। १९४४ के लगभग 'आज' के सम्पादकीय विभाग में थे। १९४६ ई० में 'सन्मार्ग' निकलने पर उसमें चले गये। 'सन्मार्ग' का कलकत्ता-संस्करण कुछ दिन उनकी ही देखरेख में निकला था, परन्तु वह काशी में इतने तन्मय थे कि अधिक दिनों तक उससे दूर रह ही नहीं सकते थे। 'तरंग' और 'बनारस' से भी थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहा। 'बनारस' में वह 'गहरेबाज़ी' नामक हास्य-व्यंग स्तंभ में अक्सर लिखा करते थे।

एक मानव के रूप में उनमें बहुतेरी खूबियां थीं। बनारस की सारी मस्ती जैसे उनमें फट पड़ी थी और बचपन से ही लगी नियमित भंग-सेवन की चंग पर चढ़कर वह उन्मद हो गयी थी। उनके एक सुहृद ने कभी कहा था कि डर है कि यह भंग हिन्दी को खा जायगी। वह इसे मानने को कतई तैयार न थे, बल्कि विजया को, राष्ट्रीय पताका की भांति कल्याणी सिद्ध करते हुए उन्होंने लिखा था :

खादी-सा सफेद स्वच्छ विमल बदाम दस,
सबसे प्रथम जम रगड़ मिलाना है।
हरी-हरी बूटी निखरी-सी खरी डालनी है,
केसर का दिव्य रंग ऊपर दिखाना है।
होकर विशोक पान खा के, रस चक्कर में,
आना ही अशोक चक्र अमल जमाना है।
भजते जिसे हैं 'रुद्र' सुयश-समुद्र वही—
भाँग छान लेना राष्ट्रध्वज फहराना है।

१९६७ के आसपास उनका स्वास्थ्य जवाब देने लगा और हाथी-सा मस्त शरीर खोखला होता गया। निरन्तर चिकित्सा से दो वर्ष बाद कुछ संभल पाये और फिर कुछ अध्ययन-मनन-लेखन आरम्भ हुआ, परन्तु शरीर में घुन लग चुका था और जीवन-भर उन्होंने, भ्रमवश, उसपर जो अत्याचार किया था, वह सामने आ गया। एक समय दूध-मलाई, अंगूर, पान और अनेक सामग्रियों से पुष्ट किया हुआ शरीर बोल गया।

जहां वह उदार, विनीत एवं मनस्वी थे, तहां ज़िद्दी और क्रोधी भी थे! जहां शिव थे, तहां साक्षात् रुद्र भी थे। किसी की अकड़ या लगने वाली बात सहन करना उनके बूते के बाहर था। हेकड़ीबाज़ों में हेकड़ीबाज़, 'नक़द दमाद अभिमानी के' थे। घरेलू जीवन में भी उनकी यही मुद्रा थी। घर में किसी से बिगड़ते तो कई-कई दिनों तक अनशन कर बैठते थे। यों पत्नी पर, बच्चों पर जान देते थे

परन्तु ज़रा-सी अनचाही बात होते ही उबल पड़ते थे। इस अन्तर्विरोध के कारण भी कभी-कभी वह गहरी वेदना भोगते थे।

इस दुनिया की दृष्टि से वह बहुत सफल नहीं कहे जा सकते। बात यह है कि आज के अतिभौतिक वातावरण में उनका दम घुटता था। वह कहते ही थे कि मुझे तो सौ वर्ष पहले पैदा होना चाहिए था। राजनीतिक तिकड़मों के प्रति उनमें घृणा थी। जिस संसार में वह जी रहे थे, उसका उनकी कल्पनाओं और भावनाओं से कोई मेल न था। इसलिए भी वह अपनी मस्ती और ज़िंदादिली को पूरी तरह ढो नहीं पाते थे और इसका बड़ा बोझ था उनके मन पर। अन्तिम काल में वह वर्षों तक बीमार रहे; बिल्कुल कंकाल हो गये थे। श्वास रोग बहुत बढ़ गया था; अच्छी तरह बोल तक नहीं पाते थे। फिर मोतियाबिन्द ने देखने की शक्ति भी छीन ली। अब वह मरण के वातावरण में जी रहे थे। कल्पना में भी मरण ही छा गया था। उनकी अन्तिम कविताओं से यह सब स्पष्ट हो जाता है:

मरण ने महा एक मेला लगाया,
मगर शून्य अब प्राण की तो पुरी है।

फिर भी जीवन-भर मस्ती में पले थे, इसलिए मौत की स्याही पर जीवन की चांदनी फिर-फिर जाती थी:

जहाँ मौत ने बीन अपनी सँभाली,
वहीं ज़िन्दगी गुनगुनाने लगी।

या कभी-कभी उसे द्वार खटखटाते हुए भी लौटा देते थे, यह कहकर:

मरब खुद देखावऽ कि कागद कहाँ है?

कागद टाइप न हो सकने से उसकी प्रतिलिपि यमदूत दे न पाते थे। परन्तु यह अभिनय क्षणिक था। मन में एक कामना रह गयी थी:

चन्द्रमा अस्त हुआ, व्यस्त कहीं है सूरज
शून्य आकाश हुआ, एक सितारा न रहा।
हौसला एक बचा है कि मरें पर सुन लें
यह वचन हम कि 'अरे रुद्र बिचारा न रहा।'

कभी ज़रा अच्छा लगता, डाक्टर और मित्र आशा बंधाते, परन्तु फिर तबीयत गिर जाती। मृत्यु और जीवन के नये-नये प्रलोभनों की यह आंखमिचौनी देखकर ही उन्होंने कहा था:

चलना जो है अभीष्ट तो
फिर 'रुद्र' चल पड़ो।
मिलते रहेंगे मार्ग में,
संबल नये नये।

और अन्त में २९ सितम्बर १९११ को जन्मे रुद्र, अपनी वर्षगांठ आने के पहले ही अपने बूढ़े निराश पिता, प्यारी पत्नी, पुत्रों तथा अगणित शुभैषी, साहित्य-प्रेमी मित्रों को रोता छोड़कर १ सितम्बर १९७० को महाप्रयाण कर गये।

गोपालसिंह 'नेपाली'

तोपों-तलवारों-राइफलों-किरचों की ज़िन्दगी जीनेवाले, बन्दूक की गोली से छिदी जांघ लिये, पेशावर, काबुल और जर्मनी में समर-नृत्य के नायक पिता की सौ-सौ उम्मीदों में पला; जिसने पिता-माता से दूर पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (अब पाकिस्तान) में बचपन बिताया, और देहरादून की उन पहाड़ियों पर उगनेवाले बेरों को छककर खाया हो, जो अपनी रानी मसूरी को चतुर्दिक से घेरे हुए हैं; बेतिया-चम्पारन में जिसने सरस्वती-मन्दिर से प्रथम परिचय प्राप्त किया; जो दार्जिलिंग की स्वर्ण-रजत-मण्डित हिम-शिखरों को पागल की तरह देखता रहा हो, मानो ललककर गोद में ले लेगा; जिसकी अगणित संध्याओं पर मालव-भूमि की नाच-नाच उठने वाली मयूरी मिट्टी की सुगन्ध उमड़कर छाई हुई है—जैसे पावस के घन-पटल मुंदते-उघड़ते रस से प्राणों को सराबोर कर रहे हों; बम्बई के कोलाहल में जिसकी बेचैनी रजतपट की मोहनिशा से उसे बार-बार स्नेह के एकान्त जीवन में खींच-खींच ले जाती रही हो,—ऐसे जन्म से नेपाली, प्राणमादन में पहाड़ी, निष्ठा में सर्वभारतीय, मृदुलता में नारी-हृदय को लजाधुर-सा पीछे छोड़ देनेवाला; आवाज़ में जिसकी एक ओर उत्तुंग हिम-किरीटिनियों का आवाहन, तथा दूसरी ओर गंगा के तटों का पीयूष था; जो इन सबके साथ एक अजीब मस्ती की अंगड़ाई लिये हिन्दी में आया था; रात-रात भर चलने वाले कवि-सम्मेलनों में उन्मद गीतों का गायक, रोने और रुलाने वाला, बचपन से मरण तक जवानी-दिवानी के नशीले गीतों, तेवरों, अंगड़ाइयों और इंगितों से हिन्दी के मन-प्राण को झकझोर कर, एक दिन चुपचाप चला गया बिना किसी शिकवा-शिकायत के; जिसने अंक भरकर ज़िन्दगी को प्यार किया और मौत आई तो उससे भी यों लिपट गया जैसे जीवन और मृत्यु की अद्वैत-सिद्धि हो, ऐसे युवक को हिन्दी नेपाली[1] के नाम से जानती है।

गोपालसिंह, जिसे हम लोग तीन अक्षरों के छोटे से नाम 'नेपाली' से जानते-पुकारते थे, बहुत पीछे दुनिया में आया। दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होने ही जा रहा था; आकाश पर घटाएं घिरने लगी थीं; कूटनीति पैंतरे लेने लगी थी; कैसर का दर्पभरा स्वर जगत् के राजनीतिक क्षितिज पर छा गया था; फ्रांस की मैज़िनो रक्षापंक्ति तेज़ी के साथ पूर्णता की ओर बढ़ रही थी और ब्रिटिश साम्राज्य अपनी

१. जन्म : ११ अगस्त, १९१३ ई०; मृत्यु : १९६३

कभी न अघानेवाली दीवानी जवानी में था, तभी ११ अगस्त, १६१३ को गोपाल का जन्म हुआ था।

इस तरह तलवारों की झंकार के बीच जन्मा, माता-पिता के विरह-माधुर्य में पगा, मस्तक पर हिमालय के गर्व और उत्तुंग भावों की छाप लिये परन्तु कलेजे में कालिन्दी की प्यास और पुकार जगाता नेपाली, कभी यहां कभी वहां, विचरता रहा। बेतिया (चम्पारन) में प्राइमरी की शिक्षा से थोड़ा ही आगे बढ़ा था कि बचपन में ही असहयोग की आंधी ने सारे अनुमान-प्रमाण डगमग कर दिये। मातृभूमि की पुकार प्राणों में बस गयी। पेशावर, देहरादून और दार्जिलिंग की प्राकृतिक सुषमा उसे बार-बार अपनी ओर खींचती रही। शायद १६२७ में, जब वह केवल १४ वर्ष का था, उसने अपने प्राण काव्य-प्रवाह में डुबा लिये। तब से जो स्रोतस्विनी इस युवक के कलेजे से निकली, वह जीवन-भर बन्द नहीं हुई।

(२)

और मां-बाप से बिछुड़ा यह बच्चा, प्यार की कभी तृप्त न होने वाली प्यास से भरा, न जाने कितने बीहड़ों एवं कष्टकर पथों में विचरण करता रहा। और हर जगह वहां की मिट्टी, वहां के तृण-गुल्म-लता-सरोवर, दर्प के साथ सिर उठाये पहाड़, मतलब हर जगह समस्त प्राणों के रस से उन्हें चाहता हुआ घूमता रहा। हिमालय हिन्दी-भवन दार्जिलिंग और बेतिया से लिखे उसके पत्र रस और दृष्टि दोनों से पूर्ण हैं। परन्तु मेरा अधिक परिचय उसके साथ तब हुआ, जब वह १६३४-३५ के लगभग मालवा में आया—'रतलाम टाइम्स' नामक एक लघुकाय पत्र का सम्पादक होकर। मैं तब 'नव राजस्थान' साप्ताहिक के प्रधान सम्पादक के रूप में अकोला (विदर्भ, मध्यप्रदेश, अब महाराष्ट्र) में था। तब नेपाली के काव्य की चढ़ती जवानी थी और उसमें मालवा की धरती की वह सोंधी सुगन्ध थी जो हम 'नवीन' और, आज की सन्तति जिन्हें भूल गयी है, उस 'हृदय' में पाते हैं। तब भी हिन्दी ने 'नेपाली' की कोई कदर नहीं की थी; हां, कवि-सम्मेलनों के 'हीरो' वह हो चले थे। आज के हिन्दी-प्रेमी और पाठक में यदि हृदय नाम की चीज़ का कोई टुकड़ा कहीं बचा हो, तो उसे यह जानकर ठेस लगेगी कि 'रतलाम टाइम्स' और 'पुण्यभूमि' के संचालक-गण, जो लखपति-करोड़पति थे, उन्हें केवल पैंतालिस रुपये मासिक देते थे और उन्हीं पैंतालिस कांटों से छिदे हुए कलेजे से, भीतर आह और कराह तथा ऊपर-ऊपर 'वाह' लिये वह कविताएं लिखता रहा; कविताएं क्या लिखता था, कलेजा तराशकर अक्षरों की डिबिया में बन्द करता था। मुझे यह स्थिति मालूम हुई तो बड़ी चोट लगी। मेरी बड़ी इच्छा थी कि उसे अपने पास बुला लूं परन्तु कुछ ही दिनों पहले मध्यप्रदेश के पुराने लेखक, कहानीकार और कवि देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' तथा मालवा (इन्दौर) के तरुण और उदीयमान कवि पुरुषोत्तम विजय को मैं अपने सहायकों के रूप में रख चुका था। पुरुषोत्तम तो आज इन्दौर से एक दैनिक निकालते हैं और पैसेवाले हैं। मतलब यह कि मेरी

मन की मन में ही रह गयी। हां, बीच-बीच में जो भी पत्र-पुष्प रूप मैं उनके लिए व्यवस्था कर सका, करता रहा और वह इतना सहृदय कि मुझे सदा अपना बड़ा भाई ही मानता और तदनुकूल बर्तता रहा।

१९३५ ई० में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ, वह ऐतिहासिक महत्त्व का था। गांधी जी सभापति थे, और महाराज तुकोजी राव ने निःशंक होकर उनका स्वागत किया था—महारानी ने भी। सीतामऊ के महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी भी उसमें उपस्थित थे। काशीप्रसाद जायसवाल, रामनरेश त्रिपाठी, निराला, नवीन, महादेवी, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि कितने ही प्रतिष्ठित लोग उसमें आये थे। शानदार कवि-सम्मेलन रात-भर होता रहा और उसमें नेपाली की कविता भी बड़े राव-चाव से सुनी गयी। वहीं मेरी उसकी भेंट हुई थी और घण्टों छनती रही। फिर तो वह परिचय की घनिष्ठता बराबर बनी रही। मेरे कहने से उसने मेरे पत्र 'नव राजस्थान' के लिए, समय-समय पर, कई कविताएं लिखीं, जो उसमें आदरपूर्वक प्रकाशित हुईं। 'नवराजस्थान' को आज लोग भूल गये हैं परन्तु अपने समय में उसने हिन्दी साप्ताहिकों का मार्गदर्शन किया था। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय-आत्मा), जैनेन्द्रकुमार, नाथूराम प्रेमी, श्री कृष्णदत्त पालीवाल, भगवानदास केला, हरिभाऊ उपाध्याय, जयनारायण व्यास, काशीनाथ त्रिवेदी, हीरालाल शास्त्री, नरोत्तम स्वामी, सूर्यकरण पारीक, जगदीशप्रसाद दीपक इत्यादि की रचनाएं छापने का सौभाग्य उसने प्राप्त था। उसने ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, विनय कुमार, गोविन्द व्यास इत्यादि मध्यप्रदेश के अनेक कवियों का दान हिन्दी को दिया है। यही पहला हिन्दी साप्ताहिक था, जो दो रंगों में छपता था।

इसी 'नव राजस्थान' के माध्यम से नेपाली काफी चमका। मेरे अनुरोध और प्रेमवश उसने अनेक मार्के की कविताएं लिखी थीं। एक कविता तो ४०-४१ साल होने पर भी मुझे नहीं भूलती है। उन दिनों तो रात-रात भर मैं उसकी पंक्तियां दोहराता था, और घूमता था, घूमता था और दोहराता था। कविता क्या थी, उसने कागज़ पर कलेजा निकालकर रख दिया था :

भीतर रोना बाहर हँसना, संगिनि जान गया हूँ मैं।
तरुण तपस्वी, तरुण विलासी
जग का मैं ऐसा पुरवासी
बाहर कैसे भेद खुले रे !
मन मेरा भीतर विश्वासी,
बादल काले ही होते हैं, संगिनि, मान गया हूँ मैं।
भीतर रोना, बाहर हँसना, संगिनि, जान गया हूँ मैं॥
नाच गई काँटों में मीरा
झूम-झूम गा गये कबीरा

मैं—१०

जग बदला मेरी बारी में
गंगा बनी गहन गंभीरा
इतना है कि प्रेम की बानी अब पहचान गया हूँ मैं।
भीतर रोना, बाहर हँसना, संगिनि, जान गया हूँ मैं ।।

नेपाली की अधिकांश कविताएं उसकी अपनी हृदय-कथा कहती हैं। विद्रोह के युग में उसका बचपन एवं कैशोर बीता; रूमानियत में उसका हृदय धड़का और माधुर्य से सरावोर प्राण लिये वह साहित्य की मण्डी में आया।

मेरी मांग कभी उसके प्राणों को छू गयी होगी। मालवा की चांदनी उसने छककर पी और मुझे 'प्रेम-पूर्णिमा' लिख भेजी, जिसे मैंने अपने पत्र में सजाकर छापा था। क्या भाषा, क्या भाव थे इस पूर्णिमा के! आज मैं जीवन के पथ पर बहुत दूर चला आया हूं; शायद सफर का अन्त समीप है। तब भी उसकी यह पूर्णिमा मेरे प्राणों में जैसे रस-बस गयी है। कुछ पंक्तियां देखिए :

आज के ये दिन सनम, घर-घर पपीहा बोलता
दूर मधु-मुरली बजी, वन-वन वियोगी डोलता
यह अजब संध्या हुई, शंका हुई कि प्रभात है।
अब गजब की रात है कि दिया जले तो प्रात है।
गुल बनूँ, बुलबुल बनूँ, कोयल बनूँ कि चकोर रे?
यह घटा की भोर रे अलि, नाचता मन-मोर रे!
यह निशा, ऐसा नशा, अपनी दिशा 'मीरा' चले।
रंग लाई है हिना, कुछ मन चले, कुछ दिल जले।

यह अनूठी चाँदनी जो कर न दे, जो कर न ले।
है छलकती गागरी, जो भर न दे, जो भर न ले।
रंग क्या, अलि, राह में कब से खिले ये फूल हैं।
ढंग क्या, कहना, किसी के पाँव की ये धूल हैं।

दूर पहुँची नर्मदा तो चल पड़ी गोदावरी,
वह कँटीली गैल ही रे, प्रेम की आसावरी।
गिन रहा पद-चिह्न हूँ मैं आज चुन-चुन कंकड़ी।
एक पिय के नाम पर मति हो रही इतनी बड़ी।

अग न जाने, जग न माने, हृदय ऐसा जीव है।
केन्द्र यह आघात का कितना सचेत-सजीव है।
दादरा-ठुमरी नहीं, अब चाह है कि विहाग हो।
केलि हो, इस मर्त्य में अलि, आज राग-विराग हो।
ध्यान कर गुण-गान कर, मृदु प्रेम का यह योग रे।
शूल पथ के फूल हैं, यह प्राण का उद्योग रे।

और अन्त में कवि अपने को उद्घाटित करते हुए प्रेम की विवशतापूर्ण याचना व्यक्त करता है :

प्रेम की यह कामना, पत्थर, तनिक तो बोल दे।
शैल बन, पाषरण बन, पर आज बन्धन खोल दे।
प्रेम की यह भावना रे, उड़ न पंछी डाल से।
मोह है कितना मधुर जग-जाल से, जंजाल से।

प्रेम की यह कल्पना, इस हाथ में वह चाँद हो।
प्रेम हो, दृढ़ नेम हो, आह्लाद हो, उन्माद हो।
प्रेम की यह पूर्णिमा रे, खेलते शिशु प्राण हैं।
मोम हैं, मृदु फूल-से इनके धनुष में बाण हैं।

[फरवरी, १६३५

कुल २०-२१ की उम्र थी, जब ये कविताएं लिखी गयीं पर इनमें उर्दू ग़ज़ल की रूहें तड़पती हैं; मीरा का आत्मार्पण बोलता है; जवानी की बहार है पर अन्धड़ भी है; गुलाब के फूल पर खिले कांटे भी हैं। प्रकृति को छककर पिया है नेपाली ने। शायद पंत के अलावा किसी दूसरे में उसके लिए वह ललक नहीं। जूही, चंपा, पहाड़ की चोटियां, तूफानी नदियां, जंगली फूल-फल, कोयल और पपीहा, चकोर और चांद, उमड़ते-बरसते सघन घन, नद-नदियां, बिजली और चांदनी, आकाश और इन्द्रधनुष, पावस और बसन्त उसकी कविता के पद-चिह्न हैं। कितनी कविताएं और कितनी-सी उम्र में लिखीं कि दस-बारह संकलन बन गये हैं और कविताएं भी वे, जिनमें एक ऐसे दर्द की वाणी है जो मानवता का शृंगार है; संकलन, जो एक से एक आगे ले जाते हैं : पंछी, उमंग, रागिनी, नीलिमा, पंचमी, नवीन, हिमालय ने पुकारा, हम तरुवर की चिड़ियां, दो तुम्हारे नयन दो हमारे नयन नौ लाख सितारों ने लूटा, रोटियों का चन्द्रमा' तथा 'तूफानों को आवाज़ दो।'

मैंने कहीं कहा है कि इनकी कविता में तारुण्य का नशा था तो विद्रोह की ललकार भी थी। जब जवानी आई, देश में आग का खेल हो रहा था, गांधी ने मिट्टी के लोंदों में प्राण फूंक दिये थे। उसका बड़ा असर था कवि पर। राह कांटों से भरी थी। वह एक जगह कहते हैं :

ऐ अनिष्ट के संगी-साथी, स्वर्गों की कल्पना न कर
ऐ विनाश के नव-स्फुलिंग, चन्दन-तिलकों से बना न कर।
मरण-घड़ी, घड़ियाल बजा, उठ विद्रोही रच सुघड़ चिता।
इधर खींच माचिस की सींकें, उधर सुना अपनी कविता।
जग के क्षणिक बुलबुले फूटें, चिर-विप्लव का राग जगे।
अट्टहास कर विग्रह, सोने की लंका में आग लगे।

कवि ने विद्रोह की भाषा में कुछ परिभाषाएं भी दी हैं :

यह लाल चिता जब सजती है,
त्योहार उसे हम कहते हैं।
हो जिसकी धार मुहब्बत की,
तलवार उसे हम कहते हैं।
चढ़ चले फूल-सा खिलकर जो,
सरदार उसे हम कहते हैं।
जो बनी नहीं हो पत्थर की,
सरकार उसे हम कहते हैं।

१९३४ ई० में, जब वह मालवा में थे, तभी की बात है। बरसात के दिन थे। मैंने एक पत्र में कुछ ऐसी बातें लिख दीं, जिनकी सहानुभूति और दर्द की भाषा कवि को छू गयी। चन्द दिन ही बीते थे कि कविता में ही यह उत्तर आया :

बन्धु, आपके एक प्रश्न ने,
आज तड़ित द्रुत चमकाये।
कवि के इस कल्पना-गगन में,
घन वे उमड़-घुमड़ आये।
यह मालव का रिमझिम पावस,
काली-काली घनी अमावस।
आँगन में बूँदों की टप-टप,
कविता कवि की, जीवन का रस,
किन्तु, लिफाफे में इससे भी,
घोर पड़ा था घन-गर्जन।
तड़प उठा मैं, प्रतिभा उछली
छोड़ कला का प्रिय सर्जन।
है जीवन की डोरी कच्ची,
अब भी कोसों दुनिया सच्ची।
कूद कूद जाती हाथों से
यह नटखट किस्मत की बच्ची।
वह तो मैं हूँ, जो हँसता हूँ,
मस्ती में कुछ गाता हूँ।
जो रोते हैं उन्हें मनाकर
अपना गीत सुनाता हूँ।
मानव का वन्दन करता हूँ,
जग का अभिनंदन करता हूँ
है स्थिति यही, कलम घिस-घिस
कर माथे पर चन्दन करता हूँ।

युग कठोर है बन्धु, इसलिए
यह सब जग में करना है।
रोने को न पिता की आज्ञा,
हँसते-हँसते मरना है।
इसे मानिए दुख तो दुख है,
आप जानिए सुख तो सुख है।
इतनी दूर प्रेम पहुँचा है
यही शक्ति मेरे सम्मुख है।
इसी शक्ति में, इसी ज्योति में,
मैं आगे को बढ़ता हूँ।
जन्म-पुण्य से नेपाली हूँ,
जीवन-गिरि पर चढ़ता हूँ।

[३ अगस्त, १६३४ की संध्या

(३)

मालवा में थे, शायद तभी की बात है। १६३४ ही रहा होगा। बम्बई में एक धनकुबेर के यहां कवि-गोष्ठी हुई। उसमें नेपाली भी थे। वहां उनकी कविता ने एक समां बांध दिया; उनके गीतों को सुनकर लोग झूम पड़े। एक तो गीत ही रोमानी थे; दूसरे उनके सुनाने का ऐसा लुभावना ढंग था कि क्या कहें। वहां फिल्म-जगत की कई बड़ी हस्तियां थीं—जैसे मुखर्जी। वे नेपाली के गीतों से बड़े प्रभावित हुए। फलतः 'सफ़र' फिल्म के गीत उनसे लिखाये गये। तभी से फिल्मी दुनिया से उनका सम्पर्क हुआ। इसी सम्पर्क के कारण, आगे चलकर, शायद १६४२ ई० से बम्बई ही रहने लगे। उन्होंने अनेक फिल्मों के गीत लिखे; पैसे कमाये; आराम-आसाइश से रहे; मोटर रखी। फिलिमस्तान ने इस दिशा में उनकी काफी मदद की। परन्तु उन्होंने जो तबीयत पाई थी, उसके कारण वह फिल्म में हज़म नहीं हो सके या यह भी कह सकते हैं कि फिल्म उन्हें हज़म नहीं कर सकी। कहते रहते थे : "मैं आज़ाद पंछी हूं। कहीं बंध के नहीं रह सकता; एक दिन फुर्र से उड़ जाऊंगा।" कई बार उनकी फिल्मी ज़िन्दगी में लम्बा अन्तराल आया, भूखों मरने की नौबत आई पर वह झुके नहीं, टूटे नहीं; अन्दर रोते, ऊपर हंसते रहे और हंसते-हंसते, ५० से भी कम उम्र में, चले गये।

ज़िन्दगी-भर उनकी कविता उनसे कभी जुदा नहीं हुई। लड़कपन में देहरादून और मसूरी के जंगलों का चप्पा-चप्पा देखा-भाला था; प्रकृति की गोद में झरनों की तरह वह उछलते-घूमते थे। जंगली बेरों और फलों से पेट भर लेते; चश्मों का पानी पीते और चहकते, उछलते, फिरते। दिन-दिन-भर बीत जाता। तभी उनकी कविता में प्रकृति के वैभव का हास है। उन्हीं दिनों, एक कविता लिखी थी :

देहरादून के मधुर बेर,
जंगल में मिलते ढेर ढेर।

यह शिशु-सी सरल कविता महाकवि 'प्रसाद' को इतनी भाई कि वह उसे गुनगुनाते रहते थे। एक बार की बात है कि नरेन्द्र शर्मा के साथ नेपाली वाराणसी गये, प्रसाद से मिलने। बैठा दिये गये। प्रसाद पास ही नहा रहे थे और गुनगुनाते जा रहे थे : 'देहरादून के मधुर बेर, जंगल में मिलते ढेर-ढेर।' नहाकर बाहर आये। नरेन्द्र से दुआ-सलाम हुआ। पूछा : "आपके साथ यह कौन हैं?" नरेन्द्र ने ने कहा—"वहीगोपालसिंह नेपाली, जिनकी कविता अभी आप गुनगुना रहे थे।" खिल पड़े प्रसाद जी और बड़े प्रेम से मिले। कवि को आशीर्वाद दिया।

•

नेपाली में उत्कट देश-प्रेम था। भारत की भूमि उनकी प्रियतम भूमि थी। यहां की मिट्टी की सुगन्ध उनके मन-प्राण में बसी थी। जब चीन ने भारत पर हमला किया तो वह पागल की तरह युवकों को ललकारते फिरते थे। जवाहरलाल जी की तरह, चीन का द्रोह, उनके भी प्राणों को मसल गया था। कितनी कविताएं उन्होंने उस समय लिखीं और बहुत संभव है कि उस दुःख ने उनके व्यथित प्राणों में शूल चुभो दिये हों और उनका हट्टा-कट्टा, श्रम में पला शरीर ऊपर से भरा-भरा रहा परन्तु अन्दर से खोखला हो गया।

नेपाली ने प्रेम का प्याला छककर पिया था किन्तु वह प्रेम एकांगी और मारक नहीं था; उसने जीवन को शक्ति दी थी। जब सोने के महल ढह गये, तब भी वह अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को, भाई-बहन को बड़ी गहराई से चाहते रहे। बच्चों को तो इतना चाहते थे कि उनके लिए पिता से भी अधिक मां बन गये थे। परन्तु एक दिन बंजारा सब कुछ छोड़कर चला गया।

लोगों का भ्रम है कि नेपाली केवल कवि थे। कवि तो थे ही, गहराई में डूबे कवि; अतलस्पर्शी भावनाओं एवं कल्पनाओं के कवि परन्तु गद्य भी बड़ा सुन्दर लिखते थे। पुण्यभूमि, योगी इत्यादि अनेक पत्रों में उनके न जाने कितने गुमनाम लेख सुरक्षित हैं। ऐसा दर्दी, रोने और रुलाने वाला कवि, हंसता था तो फिर हंसता ही था। इस बारे में वह करुणा की रागिनियों में झंकृतमना महादेवी की याद दिलाते थे। हंसते हैं तो फिर हंसते ही जा रहे हैं। एक बार उन्होंने हमारे पत्र के लिए एक मार्के का लेख लिखा था : 'हमारे यहां हंसाने वाले नहीं हैं।' इसमें उन्होंने हिन्दी में उत्कृष्ट हास्य एवं हास्य लेखकों के अभाव की ओर हमारा ध्यान तो दिलाया ही था, बदरीनाथ भट्ट, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, कौशिक, भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण, गहमरी, पद्मसिंह शर्मा, अन्नपूर्णानन्द, बेढब, हरिशंकर शर्मा इत्यादि की शैली पर संक्षिप्त किन्तु चुटीली समीक्षाएं भी दी थीं।

बहुत शूल लगे थे उनके पांवों में, उनकी छाती में भी चुभे थे पर उसका कोई मलाल उन्हें नहीं था। नेपाली दृढ़ता और लगन उनमें इस कदर थी कि वह नरक

में रहकर भी स्वर्ग की कल्पना, बल्कि अनुभव, करते थे और भले काम का नतीजा कभी सामने आयेगा, इस सिद्धान्त में गहरा विश्वास रखते थे। अपना 'अनुभव' बयान करते हुए उन्होंने, मेरे अनुरोध पर, एक कविता लिखी थी १९३६ में :

मैंने देखा है कि रेत में कभी फूल भी खिलते हैं,
पश्चिम से झोंके आते हैं, शुष्क पात भी हिलते हैं,
एक सनेही के चोले में मेरा जग का अनुभव है
इतने काँटे जहाँ वहाँ पर दो प्रेमी भी मिलते हैं।

एक समय रेतों रेतों में मैं यमुना के कूल गया,
तट देखा, लहरें भी देखीं, अपनी सुध-बुध भूल गया।
इन रेतों में आकर यमुना फूली फूली फिरती है,
अजब हुआ क्या जो जग में यह अनुरागी कवि फूल गया।

ढुलक ढुलक आये आँखों में आँसू जब जब भूल हुई
रुला रुला सबको दिल रोया सेवा जब-जब धूल हुई,
इस जीवन की दिशा-दिशा में प्रेमदान करते करते
हिल पतझड़ में, खिल बसन्त में, आज तबीयत फूल हुई।

गीतिकार एवं गायक कवि के रूप में नेपाली की कीर्ति १९३२ से १९६२-६३ तक सारे देश में व्याप्त थी। वह एक प्रदेश में जन्मे ज़रूर थे परन्तु सच्चे अर्थ में सर्वभारतीय थे। उनके श्रोता सारे देश में, दूर-दूर तक फैले हुए थे। नागार्जुन ने कितना सही लिखा था : "उनके श्रोता, पता चल जाये तो, ऐसे सुकण्ठ गीतिकार को सुनने के लिए दस-दस कोस का फासला लांघकर, कवि-सम्मेलनों में डट जाते थे।...उखड़े हुए श्रोताओं को फिर से जमाने वाले, शृंगार-वीर-करुण-निर्वेद आदि रसों में पगे हुए गीत रात-रात भर सुनानेवाले, अपनी उपस्थिति से मनहूस माहौल को स्फूर्ति और उमंग में डुबोनेवाले, मस्तमौला और हरदिल अज़ीज़—ऐसे थे हमारे प्रिय सखा गोपालसिंह नेपाली...सधे हुए शब्द-शिल्प को हवा के पंखों पर तैराने वाले, स्वरों में रसों के अनुकूल आवेग भरने वाले, युगधर्म की थिरकन को कड़ियों में बांधनेवाले, अपनी मस्ती से आबालवृद्ध जन-साधारण को विभोर करने वाले हमारे नेपाली जी सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का अभिमान थे। वे व्यापक अर्थों में महामहिम जन कलाकार थे।"

जीवन के उत्तरकाल में तो गीतिकार के रूप में वह निखर गये थे। उर्दू ग़ज़ल की अत्यन्त मनोरम, प्रियतम से वार्तालाप की पद्धति हिन्दी में ले आने में उनकी सफलता अप्रतिम है। अन्तिम दिनों लिखी गयी उनकी ऐसी कविताओं में एक तो बरबस मेरी लेखनी की जिह्वा पर तड़प-तड़प उठती है :

दिल चुराकर न हमको भुलाया करो,
गुनागुनाकर न गम को सुलाया करो,
दो दिलों का मिलन है यहां का चलन,

खुद न आया करो तो बुलाया करो। खुद न आया० ॥

द्वार पर दीप लेकर खड़ी रात है,
चाँद सर पर चढ़ाकर चढ़ी रात है,
दो दिलों के मिलन की घड़ी रात है
जुगनुओं में खड़ी मुस्कराया करो। खुद न आया० ॥

अब शुरू रात है, दिल उछलने लगे,
दीप के सँग पतंगे मचलने लगे,
रंग भी गुल शमा के बदलने लगे,
तुम हमींको न क़स्में खिलाया करो। खुद न आया० ॥

आँगनों से खिसकता हुआ दिन गया
खिड़कियों की कमाई वहीं गिन गया
रूप-बचपन गया रंग कमसिन गया
अब नयन-दीप में जगमगाया करो। खुद न आया० ॥

गुल खिलाया फिज़ा ने, कली खिल गई,
फूल क्या खिल गये, ज़िन्दगी हिल गई,
सर झुकाया गगन ने धरा मिल गई
तुम न पलकें सुबह तक झुकाया करो। खुद न आया० ॥

मेघ गाया करे, मोर नाचा करे,
पत्र बिजली लिये, विश्व बाँचा करे,
सिन्धु के प्यार को चाँद जाँचा करे
तुम न पायल अकेली बजाया करो। खुद न आया०।

पास मन के नगर से नयन की गली,
सामने है नयन से मिलन की गली,
जो पहुँचना तुम्हें हो सजन की गली,
छोड़ नैहर नयन-द्वार आया करो। खुद न आया० ॥

तुम बुलाओ हमें हम बुलायें तुम्हें,
तुम खड़ी पास हो सर झुकाएँ तुम्हें,
ज़िन्दगी सौंप कर जीत जायें तुम्हें,
मन लुभाया करो तो निभाया करो। खुद न आया० ॥

रात से चाँदनी झलमलाकर मिली,
दीप की रोशनी घर जलाकर मिली,
रात प्यासे नयन छलछलाकर मिली
तुम न दिन ही मिलन का मिलाया करो। खुद न आया०

मन्दिरों में तरसते उमर बिक गई,
सर झुकाते झुकाते कमर झुक गई,
अब तुम्हीं से हमारी लगन लग गई,
भाग्य-जैसे न तुम भी रुलाया करो। खुद न आया०

ज़िन्दगी के सफर में चलो साथ दो,
कामना की लहर में डुबो रात दो,
दो नयन में नयन, हाथ में हाथ दो,
हाथ देकर न उंगली छुड़ाया करो। खुद न आया० ॥

घूम तारे रहे रात की नाव में,
आज है रतजगा प्यार के गाँव में,
नाचता प्यार है हुस्न की छाँव में,
चाँद बनकर सितारे नचाया करो।
खुद न आया करो तो बुलाया करो॥

वह हमसे बहुत छोटे थे—मेरा मतलब है उम्र में, और हमसे बहुत पहले चले गये। मैं सिर धुनता रह गया, याद करता रह गया, रोता रह गया, अपने और दुनिया पर हंसता रह गया। वह रोना और हंसना, हँसना और रोना! बार-बार उन्हीं के गीत गाता हूं :

हम गाते हैं, सावन आया
हँसे विरागी, हँस दी माया।
मिलकर रोओ, खिलकर गाओ,
सब अपने हैं कौन पराया?
कर मल-मल पछताते सब हैं,
सभी दुखी हो जाते हैं।
प्यार भरी दो बातें ऐसी—
दुखी सुखी हो जाते हैं।
जीवन के ये सावन-भादों,
उमड़-घुमड़ कर आते हैं।
बूंद बूंद में कौन प्रलोभन—
जो गूंगे भी गाते हैं।

और यह गूंगा मन उनकी याद में बोल-बोल उठना चाहता है, पर दर्द से बेसुध और मौन हो जाता है। जो जनम-भर बोलता रहा, गाता रहा, यह मौन ही उसका अभिनन्दन है।

मुद्रक : साधना प्रिन्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली